कारंजा मठाधीश श्रीमद्-

भट्टारक श्री १०८ श्री वीरसेनस्वामी

महाराज, स्वसंवेदन ज्ञानीके

मुखकमलोद्भव-वाणीके मधुकर प्रेमी-

धरणगांव (खानदेश) निवासी श्रीमान्-

सेठ पोपटसा वेडूसा गांधी ओसवाल

की

ओरसे, अपने स्वर्गीय पिताजी-

सेठ वेडूसा सावजीके

ज्ञानावरणीय कर्मक्षयार्थ

"जैनमित्र" के ३७ वें वर्षके

ग्राहकोंको भेंट।

"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस-सूरतमें मूलचंद किसनदास

कापड़ियाने मुद्रित किया।

भूमिका।

कई वर्ष हुए जब मैंने दिल्लीमें वर्षाकाल विताया था तब धर्मपुराके पंचायती व लाला सुगनचंदजीके दिगम्बर जैन मंदिरोंके ग्रन्थभण्डारका निरीक्षण किया था। उन्हीं ग्रंथोंमें सारसमुच्चयकी एक प्रति जीर्ण मिली थी जिसकी नकल पालम निवासी छाजूरामजीसे कराकर मैंने वह प्रति श्री माणिकचंद दि० जैन ग्रन्थमालाके मंत्री पण्डित नाथूराम प्रेमी बम्बईको भेट कर दी कि वे इसका प्रकाश करे। उनको एक प्रति मेरठ छावनीसे लाला मक्खनलालजी खजांची द्वारा भी मिली। दोनों प्रतियोंमें मिलान कर इस ग्रन्थका मुद्रण ग्रन्थमालाके २१ वें नम्बरमें किया गया जिसका नाम है— "**सिद्धान्तसारादिसंग्रह**", इसका प्रकाशन विक्रम सं० १९७९ में हुआ था और जहांतक मैंने खोजकी अबतक इसका भाषानुवाद नहीं हुआ है।

मेरे मनमें वारम्वार यह इच्छा रहती थी कि इसकी भाषाटीका लिख दीजावे तो भाषावालोंको इस सारका आनन्द मिले। इस वर्ष धरणगांव (खानदेश) निवासी मास्टर पोपटरामने यह इच्छा प्रगटकी कि उनकी तरफसे कोई ग्रन्थ उनके पूज्य पिताकी स्मृतिमें जैनमित्रके पाठकोंको भेट किया जावे। अतएव मैंने इस ग्रन्थका उल्था प्रारम्भ किया और आज लखनऊके यहियागंज दि० जैन मंदिरमें उसको पूर्ण किया है। इस ग्रन्थमें वैराग्य कूटकूटकर

भरा है। इन्द्रियोंके नाशवंत व अतृप्तिकारी सुखोंसे उदासीनता लानेके लिये यह ग्रन्थ बड़ा ही उपयोगी है।

इसमें आत्मध्यान करनेकी प्रेरणा कीगई है और मोक्षके अपूर्व आनन्दके लाभ करनेकी उत्तेजना दी गई है अतः परिणामोंको शुद्ध करनेके लिये इसका पढ़ना बहुत ही उपयोगी होगा। इसके सर्व श्लोक विद्यार्थियों व उपदेशकोंके लिये भी कंठ करने योग्य हैं। कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं। यह श्री कुलभद्राचार्य बड़े अनुभवी आत्मज्ञानी आचार्य कब हुए इसका कोई पता नहीं चलता है तथापि १००० वर्ष पूर्वके होंगे ही ऐसा रचनापरसे अनुमान होता है।

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ॥ २७ ॥

भावार्थ—कामभावके समान कोई रोग नहीं है, मोहके बराबर कोई शत्रु नहीं है, क्रोधके समान कोई आग नहीं है और ज्ञानके समान कोई सुख नहीं है।

जरामरणरोगानां सम्यक्तज्ञानभेषजैः।
शमनं कुरुते यस्तु स च वैद्यो विधीयते ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी औषधिको सेवन कराके जरा मरण रोगोंको शांत कर देता है वही वैद्य कहा गया है।

अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यंतर्मुहूर्ततः ॥ १८८ ॥

भावार्थ—अज्ञानी जितने कर्मोंको करोड़ों जन्मोंमें नाश करेगा उतने कर्मोंको मन, वचन, कायकी गुप्तिको पालनेवाला आत्मज्ञानी एक अंतर्मुहूर्तमें नाश कर सकेगा।

निर्ममत्वं परं तत्वं निर्ममत्वं परं सुखं।
निर्ममत्वं परं बीजं मोक्षस्य कथितं बुधैः॥ २३४॥

भावार्थ—ममता रहित भाव परम तत्व है। यही परम सुख है, इसीको ज्ञानियोंने मोक्षका उत्तम बीज कहा है।

संतोषं लोभनाशाय धृतिं च सुखशान्तये।
ज्ञानं च तपसां वृद्धौ धारयन्ति दिगम्बराः॥ २४८॥

भावार्थ—दिगम्बर मुनि लोभके नाशके लिये संतोषको, सुख शांतिके लिये धैर्यको और तपकी वृद्धिके लिये ज्ञानको धारते हैं।

वरं सदैव दारिद्र्यं शीलैश्वर्यसमन्वितम्।
न तु शीलविहीनानां विभवाश्चक्रवर्तिनः॥ २८२॥

भावार्थ—शील आदि चारित्रकी सम्पदा जिनके पास है उनको सदा दालिद्र रहे तौ भी अच्छा है, परन्तु शीलादि चारित्र रहित हो तो चक्रवर्तीकी विभूति भी ठीक नहीं है।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः।
पराधीनं तु यत् सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं॥ ३०१॥

भावार्थ—आत्माधीन जो सुख है इसीको ज्ञानियोंने सुख कहा है। पराधीन सुख है वह दुःख ही है, कभी वह सुख नहीं होसक्ता।

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः ।
यदासौ प्रशमे नास्ति ततस्तीर्थनिरर्थकम् ॥ ३११ ॥

भावार्थ—जब यह आत्मा शीतभावमें ठहरता है तब यही महान् तीर्थ है। और जब इसकी स्थिति शांतिमें नहीं रहती है तब तीर्थ करना निरर्थक है। तीर्थयात्रा भी शांतिके लिये की जाती है।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ ३१४ ॥

भावार्थ—अपने आत्माको सदा सुंदर ज्ञानरूपी जलसे स्नान कराना चाहिये जिससे यह आत्मा भवभवके लिये निर्मल होजावे।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्ध्यति ।
गुरुशुश्रूषया कायाः शुद्धिरेषा सनातना ॥ ३१७ ॥

भावार्थ—वाणी सत्यसे शुद्ध रहती है, मन ज्ञानसे शुद्ध रहता है, शरीर गुरुकी सुश्रूषासे पवित्र होता है, यही सनातनकी शुद्धि है।

शुभं भूयात् ।

लखनऊ
वीर सं० २४६१ संवत
१९९२ माघ सुदी २
ता० ३१ अगस्त १९३५.

ब्र० सीतलप्रसाद ।
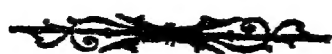
निवेदन।

सारे दिगंबर जैन समाजमें कितने ही त्यागी, ब्रह्मचारी व अनेक पदवीधारी बड़े २ विद्वान पंडित आज मौजूद हैं, लेकिन उनके द्वारा दिगम्बर जैन साहित्यकी सेवा व जिनवाणीके उद्धारका कार्य धाराप्रवाही रूपसे जैसा चाहिये ऐसा नहीं होता। पं० लालारामजी शास्त्री, पं० खूबचंदजी शास्त्री, पं० बंशीधरजी शास्त्री (सोलापुर) आदि विद्वानोंने पहले दि० जैन साहित्यकी बहुत सेवा की थी, परंतु आज वे थकगये हैं या किसी न किसी कारणसे मौन हैं, लेकिन हमारे समाजमें **श्रीमान ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी** ही एक ऐसे त्यागी मौजूद हैं जो रात दिन लगातार ३०–३५ वर्षोंसे दि० जैन साहित्यकी धाराप्रवाही अपूर्व सेवा समाचार पत्रों, पुस्तकों व व्याख्यानों द्वारा कर रहे हैं व यावज्जीव करनेके अभिलाषी हैं।

श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने आजतक छोटे बड़े करीब ७५ ग्रंथोंका सम्पादन, अनुवाद या टीका करके उसको भेंट या अल्प मूल्यसे प्रकट करवाया है, उनमें प्रायः भेंटके ग्रन्थोंका लाभ तो "जैनमित्र"-के ग्राहकोंको ही मिलता है। श्रीमान् ब्रह्मचारीजीका 'जैनमित्र' के ऊपर अजब ही प्रेम है। तथा हरएक उपहार–ग्रन्थके प्रकाशनार्थ जो सहायता मिलती है वह श्रीमान् ब्रह्मचारीजीकी प्रेरणाका ही फल होता है। इस अपूर्व सेवाके लिये तो "जनमित्र" के पाठक श्रीमान् ब्रह्मचारीजीके चिरकाल तक कृतज्ञ रहेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ—श्री सारसमुच्चय टीका जो वैराग्यशास्त्रका एक अपूर्व भांडार है उसकी हिन्दी टीका श्रीमान् ब्रह्मचारीजीने ही लखनऊके चातुर्मासके समय की थी तथा उसको "मित्र" के ग्राहकोंको भेंटमें मिलसके इसलिये द्रव्यकी प्रेरणा भी आपने ही कर दी थी, अतः धरणगांव (खानदेश) निवासी श्रीमान् सेठ पोपटसा वेडूसा गांधी ओसवालने अपने अतीव वयोवृद्ध गुरु श्रीमद् भट्टारक श्री वीरसेनजी महाराज (कारंजा) के आध्यात्मिक उपदेश व श्रीमान् ब्रह्मचारीजी सीतलप्रसादजीकी प्रेरणासे इस ग्रन्थको " मित्र " के ग्राहकोंको भेंट देनेके लिये द्रव्यकी सहायता प्रदान की है जिसकेलिये आप कोटिशः धन्यवादके पात्र हैं।

यह शास्त्रदान करीब १५०००) का हुआ है, क्योंकि इसका जो मूल्य रखा गया है उस हिसाबसे इतनी रकमके शास्त्रदानका पुण्य ही सेठ पोपटसा वेडूसाजीको मिलेगा।

इस साहित्य—सेवाके लिये श्रीमान् ब्रह्मचारीजीका हम हृदयसे आभार मानकर ऐसे शास्त्रदानका अनुकरण करनेके लिये अन्य श्रीमानोंसे निवेदन करते हैं। तथा 'मित्र' के पाठकोंसे भी निवेदन है कि इस ग्रन्थका वारवार स्वाध्याय करके इससे लाभ उठावें।

जो " जैनमित्र "के ग्राहक नहीं हैं उनके लिये इस ग्रन्थकी कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी प्रकट की गई हैं। आशा है इसका यथेष्ट प्रचार होकर श्रीमान् ब्रह्मचारीजीका परिश्रम सफल होगा।

वीर सं० २४६२
आश्विन सुदी १५
ता० ३०–१०–३६

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

विषय-सूची।

शुद्धिपत्र।

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२	१०	करके	करके (मतिहीनोपि)
३	१७	देवनगति	देवगति
१०	१६	सम्यग्ज्ञानी	सम्यग्ज्ञान
१५	१४	यावच्चे	यावच्चे
३०	६	आकिंन्य	आकिंचन्य
,,	१७	अत्म प्रतीति	आत्म प्रतीति
३२	८	देवोपुनीत	देवोपुनीत भोग
,,	१६	वेबेंन्द्रिय	पंचेन्द्रिय
,,	२४	दोषोंसे	दोषोंसे रहित
३६	१४	संयम	संचित
४८	२०	शहीर	शरीर
५१	१८	स्वाध्यायकी भक्ति	स्वाध्याय, भक्ति
६६	१४	हो सक्त' है	हो सक्ती है
८१	८	करनेवाला	करनेवाली
१००	७	युक्ति	मुक्ति
११०	१४	भितिदं	भीतिदं
११९	१४	न किसे	नर्कसे
१३८	१४	गृहस्त	गृहस्थके
१५०	८	जड़	झड़

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१५६	अंतमें	महान	महान् साधुओंके
१६५	७	लोक	लोकमें
१७२	९	ख्याल	बर्ते
१८८	१५	करुणात्मनन्	करुणात्मनस्
१९७	१०	निन्दा	निन्द्य
२१६	३	वेचा	बेच्या
२१८	८	शास्त्र दान	शास्त्र ज्ञान
२२१	१७	उनका	मैथुन
२२६	३	प्रयत्न	प्रयत्न न
२२९	१	वीतरागका	वीतरागताका
२३२	३	पाठशाला	शाला

श्रीमद् कुलभद्राचार्य विरचितं

सार-समुच्चय टीका

मङ्गलाचरण ।

दोहा ।

श्री परमातम सकलको, नमहुँ ध्यान चित धार ।
जा प्रसाद शिव-मार्गको, लखा भविक भवतार ॥१॥
वर्तमान युग भरतमें, ऋषभादिक महावीर ।
तीर्थंकर चौवीसको, नमहुं कर्म क्षय वीर ॥२॥
निकल सिद्ध परमातमा, सहजानन्द स्वभाव ।
शुद्ध बुद्ध अकलंक थिर, नमहुं द्रव्य अर भाव ॥३॥
ग्रन्थ रहित आतमरमी, दीक्षा शिक्षा देत ।
आचारज मुनिराजको, नमहुं ज्ञान सुख हेत ॥४॥
शास्त्ररमी बहु ज्ञानधर, उपाध्याय मुनिराज ।
दाता आतम ज्ञानके, नमहुं निजातम काज ॥५॥
साधत शिवपथ प्रेमसे, बढ़ें जात अध्यातम ।
मूळोत्तर गुण पालते, नमहुँ साधु शुद्धातम ॥६॥

× प्रारम्भ ता० २६-६-१९३५ वीर सं० २४६१ आषाढ वदी ११ बुधवार धाराशिवमें ।

जिनवाणी उपकारिणी, शिव मारग दरशात।
पतितोद्धारक वर धरे, नमहुँ नाय निज गात ॥७॥
सार समुच्चय ग्रन्थके, कर्ता श्री कुलभद्र।
नमहुँ परम आचार्यको, लिखूँ सार भविभद्र ॥८॥

देवदेवं जिनं नत्वा, भवोद्भवविनाशनम्।
वक्ष्येऽहं देशनां कांचिन्मतिहीनोऽपि भक्तितः ॥१॥

अन्वयार्थ-(अहं) मैं कुलभद्र आचार्य (भवोद्भवविनाशनम्) -संसारके जन्मको नाश करनेवाले (देवदेवं जिनं) देवोंके देव महादेव श्री जिनेन्द्रको (भक्तितः) भक्तिपूर्वक (नत्वा) नमस्कार करके बुद्धिमें अल्प होनेपर भी (कांचित्) कुछ (देशनां) उपदेशको (वक्ष्ये) कहूँगा।

भावार्थ-पूजनेयोग्य देव वही है जिसने आत्माके रागद्वेषादि व अज्ञानादि शत्रुओंको जीत लिया हो और अरहंत तथा सिद्धपद प्राप्त कर लिया हो। जिसका आत्मा कर्मकलंक रहित शुद्ध होगया हो उनकी भक्ति उनको प्रसन्न करनेके लिये नहीं की जाती है किंतु उच्च आदर्शके स्मरणसे भक्तजनके भाव निर्मल होजाते हैं, संसार त्यागने योग्य व मोक्ष ग्रहण करनेयोग्य भासने लगता है, इसलिये भक्ति की जाती है। श्रीकुलभद्र आचार्यने ग्रन्थकी आदिमें निर्विघ्न ग्रन्थ समाप्तिके हेतु व परोपकारी, तत्वके विवेचनमें लवलीन रहे, इस हेतु मङ्गलाचरण करके धर्मोपदेश लिखनेकी प्रतिज्ञा की है।

आत्महितकी आवश्यक्ता ।

संसारे पर्यटन् जंतुर्बहुयोनिसमाकुले ।
शारीरं मानसं दुःखं प्राप्नोति बत् दारुणं ॥ २ ॥

अन्वयार्थ—(बहुयोनिसमाकुले) नाना योनियोंसे भरे हुए (संसारे) इस संसारमें (पर्यटन्) भ्रमण करता हुआ (जंतुः) जीव (दारुणं) भयानक (शरीरं) शरीर सम्बन्धी (मानसं) व मन सम्बन्धी (दुखं) कष्टोंको (प्राप्नोति) भोगता रहता है (बत्) बड़े खेदकी बात है ।

भावार्थ—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगतिकी ८४ लाख योनियां हैं । इनमें यह संसारी प्राणी अपने२ बांधे हुए पाप व पुण्यकर्मोंके फलसे आत्मज्ञानको न पाकर-आत्मानन्दकी रुचि न प्रगट कर मात्र पंचेन्द्रियके विषयसुखमें अन्ध होता हुआ तीव्र मोह राग द्वेषके कारण असहनीय दुःखोंको पाता है । नरकगतिके भीतर छेदन भेद-नादिके घोर दुःख हैं । तिर्यंचगतिमें भी छेदन भेदन, भूख प्यास, भारवहन, हिम, आतप, वध बन्धनके घोर कष्ट हैं, मानवगतिमें रोगादि इष्टवियोग अनिष्ट संयोग व तृष्णाकी दाहके असह्य दुःख हैं । देवगगतिमें ईर्षा, शोक व तृष्णाका अपार कष्ट है । चारों ही गतियोंमें शरीर सम्बन्धी व मन सम्बन्धी दुःख होते हैं । बड़े २ पुण्यात्मा मानवोंको व देवोंको सामग्री होते हुए भी तृष्णाकी ज्वाला ऐसी पीड़ा उत्पन्न करती है जिससे वे घोर मानसिक कष्ट

भोगते हैं। जो पांचों इन्द्रियोंके सुखोंको ही सुख जानते हैं ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीवोंको चक्रवर्तीपदमें रहते हुए भी सुख शांति नहीं मिलती है. चाहकी दाहमें जला करते हैं। इन्द्रियोंके भोगोंको जितना भोगो अधिकर इच्छा बढ़ती जाती है। इष्ट सामग्री न मिलनेका दुःख, देरसे मिलनेका दुःख, अनुकूल न परिणमनेका दुःख, उसके वियोग होनेका दुःख बना ही रहता है। जो कोई इस असार संसारके सुखोंका दास है उसे इस संसारके किसी भी जन्ममें शारीरिक या मानसिक दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता है। मरण होता जानकर वह अन्धा प्राणी महान दुःखी होता है। आचार्यने खेद प्रगट किया है कि यह आत्मा है तो स्वयं परमात्माके समान ज्ञाता दृष्टा, आनन्दमई, अनंत वीर्यवान, परन्तु अनादिसे ज्ञानावरणादि कर्मोंकी संगतिमें अपनेको ऐसा भूल गया है कि इसे अपने मूल स्वभावकी कुछ भी सुधि नहीं है। जिस शरीरको पाता है उसीमें आसक्त होकर बावलासा होकर मन, वचन, कायकी क्रिया करता रहता है, बारबार दुःख उठाता है, बारबार जन्म मरण करता है, मिथ्या श्रद्धानके कारण घोर आपत्तियां सहता है। इसे अब तो चेतना चाहिये।

आर्त्तध्यानरतो मूढो न करोत्यात्मनो हितं।
तेनासौ सुमहत् क्लेशं परत्रेह च गच्छति॥ ३॥

अन्वयार्थ–(आर्त्तध्यानरतः) आर्त्तध्यानमें लवलीन (मूढः) मोही मिथ्यात्वी जीव (आत्मनः हितं) अपने आत्माका भला (न करोति) नहीं करता है (तेन) इस कारणसे (असौ) वह

(परत्र च इह) परलोकमें तथा इस लोकमें (सुमहत् क्लेशं) बहुत भारी दुःखको (गच्छति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—जिसको अपने आत्माके स्वरूपका विश्वास नहीं है, जो केवल इन्द्रिय सुखको ही सुख जानता है वह रातदिन विषय-भोगोंके पीछे बावला रहता है, इसीसे चार प्रकार आर्त्तध्यानोंमें फंसा रहता है, इच्छानुकूल इष्ट पदार्थोंके संयोग न होनेपर किन्तु अनिष्ट पदार्थोंके संयोग हो जानेपर चिन्ता करता है, यह अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान है। इष्ट पदार्थोंके वियोग होनेपर चिन्ता करता है यह इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान है। शरीरमें रोगादि होनेपर चिन्ता करता है यह पीड़ा चिन्तवन आर्त्तध्यान है। आगामी भोगसामग्री मिले ऐसी चिन्ता करता है यह निदान आर्त्तध्यान है। इन क्लेशकारी भावोंसे इस लोकमें भी दुःखमई जीवन बिताता है तथा संक्लेश परिणामोंसे पापकर्म बांधकर दुर्गतिमें जाकर तीव्र दुःख पाता है तथा आत्माका कुछ भी हित नहीं कर पाता—मानव जन्मको वृथा खोकर एक अपूर्व आत्मोन्नतिके साधनसे चूक जाता है।

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(विनयाचारसम्पन्नो) धर्म विनय व धर्मके आच-रणमें लगा हुआ तथा (विषयेषु पराङ्मुखः) पांच इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीन (जीवः) जीव (ज्ञानभावनया) सम्यग्ज्ञानकी भावना करनेसे (आत्मनः हितं) आत्माका हित (लभते) कर सक्ता है।

भावार्थ—आत्माका हित सुख शांतिका लाभ व कर्म मलका

दूर करना है। इस कार्यको वही ज्ञानी कर सक्ता है जो देव, शास्त्र, गुरु व धर्ममें आदर सहित भक्ति रखता है व शक्तिके अनुसार धर्मका आचरण पालता है, मुनि व श्रावकके व्रतोंका साधन करता है तथा जिसके मनमें यह वैराग्य आगया है कि इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नहीं है, यह विषतुल्य जीवको अहितकारी है। ऐसा ही ज्ञानी निरन्तर इस बातकी भावना भाता है कि मैं निश्चयसे सिद्ध भगवानके समान शुद्ध ज्ञाताद्दष्टा आनन्दमई वीतराग आत्मा हूं, कर्मका संयोग व शरीरादि सब मुझसे भिन्न हैं। इसी उपायसे सच्चा सुख अनुभवमें आता है व कर्ममल कटता है।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च।
मा पुनर्म्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थ–(ज्ञानेन) सम्यग्ज्ञान सहित (च विनयेन) और आदर सहित (नित्यं) सदा (आत्मानं) अपने आत्माकी (भावयेत्) भावना करनी चाहिये (मा पुनः) नहीं तो (म्रियमाणस्य पश्चात्) मरनेके बाद (तापः) संताप (भविष्यति) होगा।

भावार्थ–बुद्धिमान् मनुष्यका कर्तव्य है कि निरंतर बड़े प्रेमसे भेदविज्ञान सहित अपने शुद्ध आत्माका वारवार मनन करे। श्री जिनेन्द्रकी भक्तिद्वारा, शास्त्रस्वाध्याय द्वारा, गुरुसे उपदेशग्रहण द्वारा सामायिक व ध्यान द्वारा शुद्ध स्वरूपका मनन व अनुभव करे, यही आत्माके हितका कार्य है। जो प्रमादी शरीर, कुटुम्ब, धनादिमें मोही होकर इस कार्यको न करेगा वह आत्माको निरंतर पापबंधसे मलीन करता हुआ अंतमें मरके नरक व पशुगतिमें चला जायगा और महान कष्ट भोगेगा।

तथा च सत्तपः कार्यं ज्ञानसद्भावभावितं।
यथा विमलतां याति चेतो रत्नं सुदुर्धरं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस तरहसे (सुदुर्धरं) यह कठिनतासे प्राप्त होने योग्य (चेतो रत्नं) आत्मारूपी रत्न (विमलतां याति) निर्मल होजावे (तथा च) उस तरहसे ही (ज्ञानसद्भावभावितं) ज्ञानकी यथार्थ भावना करते हुए (सत्तपः) सच्चा तप (कार्यं) करना योग्य है।

भावार्थ—किसी खानमें रत्न पाषाण था, उसका मिलना कठिन था। जब हाथमें आगया तो जौहरी उसको बड़े यत्नसे रखकर बड़े भाव व परिश्रमसे उसके मैलको दूर करके उसको चमकता हुआ रत्न बना देता है और अटूट धन कमाता है। वैसे ही आत्माके स्वरूपका ज्ञान होना बहुत कठिन था। जिस किसी ज्ञानीको आत्मज्ञानरूपी रत्न प्राप्त होगया उसको उचित है कि जिस उपायसे यह आत्मा शीघ्र ही कर्ममैलसे छूटकर शुद्ध हो सके उसी उपायसे इसे शुद्ध करना चाहिये। अपनी शक्तिको न छिपाकर आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना भाते हुए जिनागमके अनुसार यथार्थ तप करना चाहिये जिससे परिणामोंमें आनंद रहे व शरीरकी व इन्द्रियसुखकी आशक्ति दूर हो व मन वशमें रहे। उपवास, ऊनोदर, रस त्याग, एकांत सेवन आदि बारह प्रकार तपोंका प्रेम सहित अभ्यास करना चाहिये। आत्मध्यान द्वारा आत्मानुभवकी प्राप्तिपर लक्ष्य रखना चाहिये। यही सच्चा तप है।

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम्।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ-(नृजन्मनः) मानव जन्मका (एतत् सारं फलं) यही सार फल है (यत्) जो (अनिगूहितवीर्यस्य) अपनी शक्तिको न छिपाकर (संयमस्य धारणम्) संयमको धारण किया जावे (च) और (ज्ञानसेवनम्) आत्मज्ञानकी सेवा की जावे।

भावार्थ-मानव जन्म पाना बड़ा दुर्लभ है। संयमका साधन, उत्तम धर्मध्यान व शुक्लध्यान इसी जन्मसे होसक्ता है। नरक, पशु व देवगतिमें नहीं होसक्ता है। इसलिये इस अपूर्व अवसरको विषय कषायोंमें नहीं खोना चाहिये-इसको सफल कर लेना चाहिये। सफलता तब ही होगी जब संयमको धारकर आत्मानुभवका अभ्यास किया जायगा। यदि शक्ति हो तो सर्व परिग्रहका त्याग कर निर्ग्रंथ साधु हो महाव्रतोंको पालते हुए आत्मध्यानका साधन करे। यदि मुनिसंयमकी शक्ति न हो तो श्रावकके योग्य दर्शन व्रत आदि ग्यारह संयमकी श्रेणियोंमेंसे किसीको ग्रहण करे। जिस दर्जेके लायक चारित्र पालनेकी शक्ति व योग्यता हो उस दरजेका चारित्र शुद्ध भावसे पालते हुए निश्चय चारित्र स्वरूपाचरण व आत्मानुभव है उसकी उन्नतिपर उद्यमशील रहे। जो मानव आत्माको शुद्ध करनेका साधन करता है वही नर-जन्मके सारे फलको पाता है।

ज्ञानध्यानोपवासैश्च परीषहजयैस्तथा।
शीलसंयमयोगैश्च स्वात्मानं भावयेत् सदा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ-(ज्ञानध्यानोपवासैश्च) शास्त्रज्ञान, आत्मध्यान तथा उपवास करते हुए (परीषहजयै स्तथा) तथा क्षुधा तृषा आदि परीषहोंको जीतते हुए (शीलसंयमयोगैश्च) शील संयम तथा

योगाभ्यासके साथ (सदा) निरन्तर (स्वात्मानं) अपने आत्माकी (भावयेत्) भावना करे ।

भावार्थ—आत्महितके लिये उचित है कि अपने आत्माके मूल शुद्ध स्वरूपका वारवार मनन या अनुभव किया जावे । इस कार्यके लिये शास्त्र अभ्यासकी, ध्यानकी तथा इन्द्रियों पर विजय पानेके लिये व शारीरिक व मानसिक विकारोंके शमनके लिये उपवासकी आवश्यक्ता है । ध्यान करते हुए यदि क्षुधा, तृषा, डांस मच्छर, शीतादि परीषह सहना पड़े तो शांतिसे सहनी चाहिये। अपने स्वभावको शीलवान शांत मंदकषायी रखना चाहिये तथा अहिंसादि पांच प्रकार चारित्रको पालना चाहिये । इन्द्रिय व मनपर पूर्ण संयम रखना चाहिये तथा नाना प्रकार आसनोंसे स्थिर होकर योगाभ्यास करना चाहिये । आत्माका मूल स्वभाव परम शुद्ध वीतराग ज्ञानानंदमय अमूर्तीक है । सिद्धोऽहं शुद्धोऽहं इसतरहकी भावना करनी चाहिये ।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा ।
तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (आत्मनः हितं) आत्माका भला (इच्छेत्) चाहते हो तो (ध्याने) ध्यानमें (तथा च अध्ययने) और शास्त्र पढ़नेमें (ज्ञानाभ्यासः) ज्ञानका अभ्यास (सदा) निरंतर (कार्यः) करते रहो (च तपसः रक्षणं एव) साथ ही तपकी रक्षा भी करो ।

भावार्थ—आत्मज्ञानका अभ्यास ही आत्माके लिये परम हित-

कारी है। जबतक एकाग्र मन होकर ध्यान होसके तबतक ध्यानके द्वारा ज्ञानाभ्यास करे, जब ध्यानमें मन न लगे तब आध्यात्मीक शास्त्रोंको मुख्यतासे पढ़े। उपवास, ऊनोदर आदि बारह प्रकार तपोंका भी साधन करता रहे, जिससे इन्द्रिय व मन अपने वशमें रहे व कषायोंका शमन रहे व कष्ट सहनेका अभ्यास जमे।

ज्ञानादित्यो हृदिर्यस्य नित्यमुद्योतकारकः।
तस्य निर्मलतां याति पंचेन्द्रियदिगङ्गना ॥ १० ॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसके (हृदि) मनमें (ज्ञानादित्यः) ज्ञानरूपी सूर्य्य, (नित्यं) सदा (उद्योतकारकः) प्रकाशित रहता है (तस्य) उसकी (पंचेन्द्रियदिगङ्गना) पांचों इन्द्रियेंरूपी दिशाएं जोकि सूर्यकी स्त्रियां हैं (निर्मलतां याति) निर्मल रहती हैं, निर्विकारी रहती हैं।

भावार्थ–सूर्यके प्रकाशसे दिशाएं भी प्रकाशित व निर्मल रहती हैं उनपर अंधकार नहीं आता है। सूर्य दिशारूपी स्त्रीका पति है, दिशाकी शोभा सूर्यसे है, सूर्यके वियोगसे दिशा अंधकारयुक्त मलीन होजाती है; उसी तरह पांच इन्द्रियोंके विकारोंको दूर रखकर उनको शांत व स्वभावमें काम करनेवाली रखनेके लिये सम्यग्ज्ञानी रूपी सूर्यके प्रकाशकी जरूरत है। आत्मज्ञान व वैराग्यके प्रतापसे इन्द्रियां वशमें रहती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय ब्रह्मचर्यमें, जिह्वा इन्द्रिय रस नीरस भोजन पाकर संतोषमें, नेत्र शास्त्रावलोकनमें व निर्विकार भावके साथ वर्तनेमें, कर्ण जिनवाणी श्रवणमें, नाशिका सुगंध दुर्गंधमें समभाव रखनेमें समर्थ होती हैं। मनको कभी वेकाम नहीं रखना चाहिये। आत्मज्ञान व शास्त्रज्ञानके अभ्यासमें लगाए रखना आत्महितैषीका परम कर्तव्य है।

एतज्ज्ञानफलं नाम यच्चारित्रोद्यमः सदा ।
क्रियते पापनिर्मुक्तः साधुसेवापरायणैः ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ-(एतत्) यही (ज्ञानफलं) ज्ञान पानेका फल (नाम) प्रसिद्ध है (यत्) जो (पापनिर्मुक्तैः) पापोंको त्यागनेवाले (साधुसेवापरायणैः) व साधुओंकी सेवामें लीन महात्मा (चारित्रोद्यमः) चारित्रका पुरुषार्थ (सदा) नित्य (क्रियते) करें ।

भावार्थ-शास्त्रज्ञानधारी पण्डित होनेकी सफलता तब ही है जब उस ज्ञानके प्रकाशमें पापोंको पाप जानकर त्याग दिया जावे तथा मनपर अंकुश रखनेके लिये साधुओंकी सेवामें लीन रहकर गुरुकी आज्ञाप्रमाण व उनके निरीक्षणमें मुनि या श्रावकका चारित्र नित्य निर्मलभावसे पाला जावे तथा अंतरंगमें स्वरूपाचरणका या स्वानुभवका प्रकाश किया जावे। चारित्र पाले विना ज्ञानका होना निष्फल है। आत्मरमणसे ही वीतरागता होगी, वीतरागतासे ही स्वात्मानन्द मिलेगा व कर्ममल दूर होगा ।

सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्ताल्हादनमुत्तमम् ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ-(अंतरात्मना) अंतरात्मा सम्यग्दृष्टीको (निभृतेन) निश्चिन्त होकर (सर्वद्वन्द्वं) सर्व सांसारिक उपाधियोंको (परित्यज्य) त्यागकर (चित्ताल्हादनम्) चित्तको आनन्द देनेवाले (उत्तमम्) व श्रेष्ठ (ज्ञानामृतं) आत्मज्ञानसे उत्पन्न अमृतको (सदा पेयं) सदा पीना योग्य है ।

भावार्थ-ज्ञानी सम्यग्दृष्टी महात्माका यही चारित्रपालन है

कि वह मनको आकुलताके कारण सर्व सांसारिक कार्योंका त्याग करदे। यदि सामर्थ्य हो तो सर्व परिग्रह त्याग मुनि होजावे अन्यथा एकदेश श्रावकका चारित्र ग्रहणकर आरम्भको त्यागे या घटावे। पूर्ण निश्चिन्त होकर एकांतमें बैठ आसन जमा समता-भावके द्वारा शुद्ध आत्माके स्वरूपका अनुभव करे। इसी आत्मध्यानके प्रतापसे अपूर्व आनन्द होगा। इस आत्मध्यानके अभ्यासको निरन्तर त्रिकाल व द्विकाल व एक काल हरसमय ४८ मिनट तक यथा-संभव करना योग्य है। यही चारित्र मोक्षद्वीपमें ले जानेवाला है।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥ १३ ॥
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम्।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(नानादुःखविधायिनि) अनेक प्रकार शारीरिक व मानसिक कष्टोंको देनेवाले (भीमे) इस भयानक (संसारे) संसारमें (भ्रमता) भ्रमण करते हुए (यत्) जिस (ज्ञानं नाम महारत्नं) सम्यग्ज्ञान नामके महान रत्नको (कदाचन) कभी (न प्राप्तं) नहीं पाया था (त्वया) तूने (अधुना) अब (सम्यग्दर्शनसंयुतं) सम्यग्दर्शन सहित (तत्) उसे (प्राप्तं) पालिया है (पुनः) फिर (विषयास्वादलालसः) पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लुब्ध होकर प्रमाद व आलस्य (मा कार्षीः) न कर।

भावार्थ—आत्मा अनात्माका भेद विज्ञान सहित सम्यग्ज्ञानका पाना बड़ा ही दुर्लभ है। असैनी पंचेन्द्रिय पर्यंतके तो योग्यता ही

नहीं है। सैनी पंचेन्द्रिय होकर भी अनंतवार सम्यग्ज्ञान पानेका निमित्त ही नहीं बना। बड़े पुण्यके उदयसे आर्यखण्ड उत्तम कुलमें मनुष्य जन्म मिला, इन्द्रियोंकी पूर्णता हुई, बुद्धि प्रबल पाई, जिन धर्मके उपदेशका समागम मिला, सात तत्वोंको जाना, उनका मनन किया, परिणामोंकी शुद्धता हुई, करण लब्धिका लाभ हुआ, अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्मका उपशम हुआ, तब कहीं प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनका लाभ हुआ। सम्यग्दर्शनके प्रकाश विना शास्त्रोंके द्वारा तत्वोंका ठीकर ज्ञान होनेपर भी अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं होपाती है। सम्यग्दर्शनके प्रकाश होते ही सर्व ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आचार्य कहते हैं कि जिस सम्यग्ज्ञानरूपी महान रत्नको अनादिकालसे अबतक नहीं पाया था वह अब बड़े भारी शुभ योगसे मिल गया है। इस सम्यग्ज्ञानको महारत्नकी उपमा इसीलिये दी है कि तीन लोककी सम्पत्ति भी इसके सामने तुच्छ है। तथा यह रत्न ऐसा प्रकाशशील है कि इसके उजालेमें अपना शुद्धात्मा भिन्न दिखता है और रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म तथा शरीरादि नोकर्म व सर्व ही अपने आत्मासे बाहरके चेतन व अचेतन पदार्थ भिन्न दीखते हैं। इसीके प्रकाशसे स्वानुभवरूपी सीधे मोक्षमार्गका पता लगता है, जिसपर चलनेसे बहुत शीघ्र निराकुल मोक्षधाममें पहुंच सक्ता है। और भयानक संसारके जन्म मरण इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगजनित व तृष्णाकी दाहसे प्राप्त असहनीय दुःखोंसे छूट सक्ता है। ऐसे अपूर्व सम्यग्ज्ञानको पाकर हे भाई! यदि तू फिर प्रमाद करेगा,

निश्चय तथा व्यवहार सम्यक्चारित्रका पालन न करेगा और पांचों इन्द्रियोंके भोगोंमें लुभाकर जीवन विता देगा तो अंतमें पछताएगा तथा भव भवमें कष्ट उठाएगा और जब याद आजायगा तब पछतावा करेगा कि हा! मैंने उत्तम अवसरको वृथा खो दिया। कांच खंडके समान विषयसुखके लोभमें रत्न समान आत्मानन्दको फेंक दिया।

आत्मानं सततं रक्षेज्ज्ञानध्यानतपोवलैः
प्रमादिनोऽस्य जीवस्य शीलरत्नं विलुम्पते ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—अतएव (आत्मानं) अपने आत्माको (ज्ञानध्यानतपोवलैः) शास्त्रज्ञान, आत्मध्यान तथा उपवास ऊनोदरादि तपके बलसे (सततं रक्षेत्) सदा विषयकषायोंसे रक्षित रक्खो (अस्य) इस (प्रमादिनः) प्रमादी आलसी (जीवस्य) जीवका (शीलरत्न) चारित्ररूपी रत्न (विलुम्पते) लोप होजाता है।

भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञानरूपी अत्यन्त दुर्लभ महारत्न हाथ लग गया है तब विवेकी मानवका कर्तव्य है कि शास्त्राभ्यास करता रहे, आत्मध्यान बढ़ाता रहे, तपकी साधना करता रहे, जिससे विषय कषाय निर्बल होजावें. रागद्वेष दूर होते जावें, वीतरागविज्ञानमई भावकी वढ़ती होती जावे। इसी उपायसे आत्माकी इस भयानक संसारसे रक्षा हो सकेगी। यदि आलस्य किया जायगा, शीघ्र चारित्रका साधन न किया जायगा तो जो स्वरूपाचरण चारित्ररूपी रत्न सम्यग्दर्शनके साथ प्राप्त हुआ है वह भी चला जायगा। तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न भी चले जांयगे। रत्नत्रयको गमाकर दीर्घकालके लिये पछताना पड़ेगा।

शीलरत्नं हतं यस्य मोहध्वान्तमुपेयुषः।
नानादुःखशताकीर्णे नरके पतनं ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ-(मोहध्वांतं उपेयुषः) मोहरूपी अंधकारसे गृसित (यस्य) जिस किसी प्राणीका (शीलरत्नं) चारित्ररूपी रत्न (हतं) नष्ट होगया उसका (ध्रुवम्) निश्चयसे (नानादुःखशताकीर्णे) अनेक दुःखोंसे पूर्ण (नरके) नरकमें (पतनं) पतन होगा।

भावार्थ-जो कोई शरीर व इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होकर अपनी आत्मरुचिको व अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धाको गमा बैठता है, उसका चारित्र मलीन होजाता है, वह स्वार्थमें अंधा होजाता है। रात्रिदिन हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी रौद्रध्यानमें फंसकर अशुभ भावोंसे नरकायुको बांधकर महान कष्टोंके समूहसे भरे हुए नरकोंके बिलोंमें पडकर दीर्घ आयु तक महान संकट भोगता रहता है।

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य यावत्तेन्द्रियसम्मदः
तावद्युक्तं तवः कर्तुं वार्द्धक्ये केवलं श्रमः ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ-(यावत्) जबतक (शरीरस्य) शरीरकी स्वास्थ्यं) तन्दुरूस्ती है (यावत् च) व जबतक (इन्द्रियसम्मदः) इन्द्रियोंमें प्रसन्नता है। (तावत्) तबतक (तपः) तप करना (युक्तं) उचित है (वार्द्धक्ये) वृद्धावस्था होनेपर (केवलं) मात्र श्रमः) खेद होगा।

भावार्थ-विवेकी मनुष्यका कर्तव्य है कि मानवगतिको आत्मोन्नतिका मुख्य साधक समझकर बुढ़ापा आनेके पहले ही जबतक शरीरका स्वास्थ्य अच्छा है व पांचोंइन्द्रियोंमें बल है, अंगोपांगमें

शक्ति है–अशक्ति नहीं है तबतक आत्मध्यानका अभ्यास कर लेवे। युवावयको विषयोंके जालमें फंसाकर यह न सोचे कि जब वूढ़ा हूंगा तब तप कर लूंगा। बुढ़ापेमें इन्द्रियाँ शिथिल होजाती है, शरीर निर्बल होजाता है, भूख प्यास शीघ्र सताती है उस समय तपके लिये उद्यम भी करेगा तौभी नहीं कर सकेगा, मनको मात्र खेद होगा। इसलिये अवसर नहीं खोना चाहिये। मरणके आनेका कोई समय नियत नही है। जितनी जल्दी हो आत्मशुद्धिका प्रयत्न कर लेना चाहिये।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य याति स पंडितः॥ १८॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसका (सत्वीर्यं) सच्चा पुरुशार्थ (शुद्धे) निर्दोष आत्मज्ञानपूर्वक (तपसि) तपमें है, (ज्ञानं) ज्ञान (कर्म) कर्मोंके (परिक्षये) नाशमें है (धनं) धन (पात्रे) पात्रके लिये (उपयोगि) उपयोगमें (याति) लगता है (स पंडितः) वही पंडित बुद्धिमान् है।

भावार्थ–आत्मबल व शरीरबलकी सफलता तब ही है जब आत्मज्ञान सहित सच्चा तप साधा जावे। विद्वान ज्ञानी शास्त्रज्ञ होनेका महत्व तब ही है जब उस सम्यग्ज्ञानसे ऐसा आत्मध्यान किया जावे जो कर्मोंका नाश करे। धनकी सफलता तब ही है जब उसको योग्य पात्रोंमें दान देनेमें खर्च किया जावे। जो इसतरह विवेकपूर्वक अपने बलको, ज्ञानको व धनको उपयोगी बनाता रहता है वही पंडित है।

गुरुशुश्रूषया जन्म चित्तं सद्ध्यानचिन्तया ।
श्रुतं यस्य समे याति विनियोगं स पुण्यभाक् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसका (जन्म) जन्म (गुरुशुश्रूषया) गुरुकी सेवा करनेमें (चित्तं) मन (सद्ध्यानचिन्तया यथार्थ आत्मध्यानके मननसे (श्रुतं) शास्त्रज्ञान (समे) समताभावमें (विनियोगं याति) काममें आता है (स पुण्यभाक्) वही पुण्यात्मा है ।

भावार्थ–गुरु परमदयालु जीवनको सुमार्गमें प्रेरक होते हैं व मोक्षमार्गकी उन्नतिका उपाय बताते हैं । अतएव जो अपना जन्म गुरुभक्तिमें विताता है वह उन्नतिमें पीछे नहीं पड़ता है, वह बड़ा पुण्यात्मा है । जो इस चंचल मनको विषयकषायोंके झंझटसे रोककर आत्ममननमें व आत्मध्यानकी चेष्टामें लगाता है वह भी पुण्यात्मा है । शास्त्रज्ञान पानेका फल स्याद्वादनयसे वस्तुत्वका विचार है । जिसके द्वारा आपत्तिमें आकुलता न की जावे, सम्पत्तिमें उन्मत्त भाव न रक्खा जावे, समताभावमें रमा जावे, जगतको नाटकके समान देखकर हर्षविषाद न किया जावे, आत्म सन्मुख बुद्धि रखकर अलिप्त रहा जावे । जो ऐसा पंडित शास्त्री है वह भी पुण्यात्मा है ।

छित्वा स्नेहमयान् पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥ २० ॥

अन्वयार्थ–(स्नेहमयान् रागमई (पाशान्) फन्दोंको (छित्वा) छेदकर, (मोहमहार्गलाम्) मोहरूपी महान आडको (भित्वा) तोड़कर (सच्चारित्रसमायुक्तः) जो सम्यक्चारित्रमें लवलीन है (मोक्षपथे) व मोक्षके मार्गमें (स्थितः) जमा हुआ है (शूरो) वही वीर महात्मा है ।

भावार्थ—जैसे बंद किवाड़ोंमें भीतरकी वस्तु नहीं दीखती है वैसे ही मिथ्यात्वकी आड जबतक रहती है तबतक अपने आत्माका दर्शन नहीं होता है। इसलिये वही वीर योद्धा है जो इस मिथ्यात्वकी आडको तोड़कर आत्मदर्शी सम्यक्दृष्टी होजाता है और जगतके स्नेहके फंदेको छेदकर वैराग्यवान होजाता है। ज्ञानवैराग्यसे पूर्ण होकर जो सम्यक्चारित्रको पालता हुआ व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे स्वात्मानुभवरूपी निश्चय रत्नत्रयमें दृढ़तासे जमा रहता है वही सच्चा वीर है।

अहो मोहस्य माहात्म्यं विद्वांसो येऽपि मानवाः।
मुह्यन्ते तेऽपि संसारे कामार्थरतितत्पराः ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(येऽपि) जो कोई भी (मानवाः) मनुष्य (विद्वांसः) विद्वान हैं (तेऽपि) वे भी (कामार्थरतितत्पराः) काम व धनके स्नेहमें तत्पर रहते हुए (संसारे) इस संसारमें (मुह्यन्ते) मोहित हो जाते हैं (मोहस्य माहात्म्यं) यह मिथ्यात्वभावकी महिमा है (अहो) -बड़े खेदकी बात है।

भावार्थ—शास्त्रज्ञानरहित, तत्वज्ञानरहित मूढ़ प्राणी यदि धनमें व विषयोंकी इच्छाओंमें व कुटुम्बमें मोहित होकर आत्महित न करे तो कुछ खेद व आश्चर्यकी बात नहीं मानी जासक्ती है, परन्तु जो मानव विद्वान हैं, शास्त्रज्ञ हैं, तत्वज्ञानी हैं वे यदि गृहस्थमें मोही होकर रातदिन धन कमानेमें तथा इन्द्रियोंकी इच्छा पूर्ण करनेमें लगे रहें तो बड़े खेद व आश्चर्यकी बात है। मिथ्यात्वका अंधेरा जबतक दूर नहीं होता है तबतक सच्चा ज्ञान व वैराग्य नहीं होता है अतएव इस मिथ्यात्वको दूर करना योग्य है।

आत्माके वैरी विषयकषाय।

कामः क्रोधस्तथा लोभो रागद्वेषश्च मत्सरः।
मदो माया तथा मोहः कन्दर्पो दर्प एव च ॥ २२ ॥
एते हि रिपवो चौरा धर्मसर्वस्वहारिणः।
एतैर्वभ्रम्यते जीवः संसारे वहुदुःखदे ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ–(कामः) विषयोंकी इच्छा (क्रोधः) क्रोध (तथा-लोभः) और लोभ (रागः) रागभाव (द्वेषं च) व द्वेषभाव (मत्सरः) ईर्षाभाव (मदो) जाति कुल बल विद्या तपादिका घमंड (माया) मायाचार (तथा मोहः) और मोह, (कन्दर्पः) कामसेवनकी इच्छा (दर्प एव च) तथा अहंकार भाव (एते) ये ही (रिपवः) शत्रु (हि) निश्चयसे (धर्म-सर्वस्यहारिणः) धर्मरूपी सर्व धनको हरनेवाले (चौराः) चोर हैं। (एतैः) इन्हीके कारण (जीवः) यह प्राणी (वहुदुःखदे) वहुत दुःख-दायक (संसारे) इस संसारमें (वंभ्रम्यते) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ–इस आत्माके स्वाभाविक धर्म रत्नत्रयभावको या ज्ञानदर्शन सुख शांति वीर्यादिको नाश करनेवाले विषय कषाय हैं व मिथ्यात्वभाव हैं। मोहनीय कर्मके कारण काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा आदि अशुद्धभाव सदा रहते हैं जिनके रहते हुए आत्मीक वीतराग परिणति मानो लोप होजाती है। इसलिये ये सब औपाधिक भाव आत्माके महान वैरी, आत्मधनके हरनेवाले चोर हैं व इनहीके कारण तीव्र कर्मोंका वन्ध होता है, जिनके फलसे यह प्राणी इस भयानक दुःखदाई संसारमें दीर्घकालसे जन्म मरण

करता हुआ चला आरहा है। इसलिये इस मोहके परिवारको नष्ट करना ही उचित है।

रागद्वेषमयो जीवः कामक्रोधवशे गतः।
लोभमोहमदाविष्टः संसारे संसरत्यसौ ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ-(असौ) यह (जीवः) प्राणी (रागद्वेषमयः) रागी द्वेषी होकर (कामक्रोधवशे गतः) काम व क्रोधके वशमें प्राप्त होता हुआ (लोभमोहमदाविष्टः) तथा लोभ, मोह और घमंडसे घिरा हुआ (संसारे) इस संसारमें (संसरति) भ्रमण करता है।

भावार्थ-क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके उदयके आधीन होकर यह संसारी प्राणी अपने आत्मबलको प्रगट न कर सकनेके कारण विकारी, मोही, रागी, द्वेषी होता हुआ तदनुकूल मनमें विचार करता है, वैसी ही वचनकी प्रवृत्ति करता है, वैसे ही शरीरकी क्रिया करता है। इस अशुभ प्रवृत्तिके कारण तीव्र पापकर्म बांधकर इस संसारमें जन्ममरण करता हुआ भ्रमता है। कषाय ही जीवके शत्रु हैं।

सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो जैनभक्तजितेन्द्रियः।
लोभमोहमदैस्त्यक्तो मोक्षभागी न संशयः ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ-(सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो) सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका धारी (जैनभक्तः) जैनधर्मका भक्त (जितेन्द्रियः) इन्द्रियोंका विजयी (लोभमोहमदैः त्यक्तः) लोभ, मोह व मदसे रहित जीव (मोक्षभागी) कर्मोंसे छूट जायगा (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

भावार्थ—संसारके नाशका उपाय जैनधर्मके यथार्थ तत्वोंका श्रद्धान तथा ज्ञान है और फिर उस सम्यग्ज्ञानके अनुसार चारित्रका पालना है। साधकको श्री जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी, जैन साधु व जैनधर्मकी भावपूर्वक भक्ति करते रहना चाहिये। पांच इन्द्रियोंको और मनको अपने आधीन रखना चाहिये तथा इस क्षणभंगुर संसारके नाटकमें मोह नहीं करना चाहिये, सांसारिक विभूतिका स्वामी होनेपर भी कोई अहंकार नहीं करना चाहिये और इन्द्र चक्रवर्ती आदि क्षणिक पदोंका लोभ नहीं करना चाहिये। जो सम्यग्दृष्टी ज्ञान व वैराग्य सहित आत्मानुभव करेगा वह अवश्य कर्मबंधसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

कामक्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः।
एतेन निर्जिता यावत्तावत्सौख्यं कुतो नृणाम् ॥२६॥

अन्वयार्थ-(कामक्रोधः) काम, क्रोध (तथा मोहः) तथा मोह (एते त्रयः अपि) ये तीनों ही (महाद्विषः) इस जीवके महान वैरी हैं (यावत्) जबतक (एतेन) इन शत्रुओंसे (निर्जिता) मनुष्य पराजित हैं (तावत्) तबतक (नृणाम्) मानवोंको (सौख्यं) सुख (कुतः) किसतरह होसक्ता है ?

भावार्थ—सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है। उसका स्वाद तब ही आता है जब आत्माका स्वभाव निर्मल होता है। यदि आत्माका स्वभाव मिथ्यात्वसे, काम भावसे तथा क्रोध भावसे मलीन होजाता है तब इन ही कलुषताओंका स्वाद आता है। जैसे पानीमें यदि लवण, नीम, खटाई मिली हों तो लवणका खारा, नीमका कटुक, खटाईका

खट्टा स्वाद आवेगा, पानीका निर्मल मिष्ट स्वाद नहीं आयगा। जो मानव रात दिन इन तीनो महान शत्रुओंके वशमें रहते हैं उनको आत्मसुख कैसे मिल सक्ता है? अतएव इन तीनोंको जीतना चाहिये। वास्तवमें ये बड़े वैरी हैं। मिथ्यात्वसे यह प्राणी अपनेको ही भूल जाता है, कर्मजनित पर्यायमें आपा मान लेता है। काम-भावसे अंधा हो, तीव्र विषयभोगमें रत हो शरीरके वीर्यका नाशकर व महान रागी हो धर्मको भूल जाता है। क्रोधके आधीन हो बावला होकर बकता है व परके नाशकी चेष्टा करता है। जैसे विषमिश्रित जल पीनेयोग्य नहीं वैसे इन तीनों भावोंका अनुभव योग्य नहीं—यहां भी आकुलताकारक है व परलोकमें भी दुर्गतिका कारक है।

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(कामसमः) कामके समान (व्याधिः) रोग (नास्ति) नहीं है, (मोहसमः) मोहके समान (रिपुः) शत्रु (नास्ति) नहीं है, (क्रोधसमः) क्रोधके समान (वह्निः) अग्नि (नास्ति) नहीं है। (ज्ञानसमं) ज्ञानके बराबर (सुखं) सुख (नास्ति) नहीं है।

भावार्थ—शरीरमें फोड़ा, फुंसी, ज्वर, खांसी, अजीर्ण, क्षय, मरी आदि रोग बड़े भयानक हैं परन्तु उनका इलाज होजाता है तो वे दूर होजाते हैं। यदि दूर नहीं हुए तो केवल इस वर्तमान नाशवंत शरीरको ही छुड़ा देते हैं परलोकमें बुरा नहीं करते हैं, परन्तु काम-भावकी वेदना यहां भी कष्ट देती है व परलोकमें भी सताती है। इच्छानुकूल विषय न मिलनेपर कष्ट होता है। मिलने पर फिर

वियोग होजानेका कष्ट होता है; तृष्णाकी वृद्धिका कष्ट होता है, तीव्ररागसे कर्म बांधकर परलोकमें कष्ट पाता है तथा वहां भी कामरोग संस्कारवश उठ खड़ा होता है। कामरोग भवभवमें दुःखदायी है। इस कामके समान कोई रोग नहीं। मिथ्यात्वके समान कोई शत्रु नहीं है। जगतमें जानमालका शत्रु शरीर व सम्पत्तिको ही हरता है परन्तु यह मिथ्यात्व नरक निगोद आदि तुच्छ शरीरोंमें पटक कर भवभवमें घोर कष्ट देता है। क्रोध बड़ी भारी अग्नि है। शांतभावको व शरीरके रुधिरको जलाती है। दूसरोंको कष्ट देनेके लिये प्रेरित करती है। घोर अनर्थमें प्रवृत्ति कराती है। तीव्र कर्मबंध कराकर परलोकमें दुःखसागरमें गिरा देती है। आत्मज्ञानसे सच्चा सुख होता है। शास्त्रके भीतर उपयोग रमानेसे भी सुख होता है। आत्मीक सुखका भोग ज्ञानद्वारा होता है। ज्ञानद्वारा सांसारीक सुखदुःखमें समभाव रह सक्ता है। इसलिये ज्ञानके समान सुख नहीं है ऐसा जानकर इन मोह, काम व क्रोधको जीतकर ज्ञानाभ्यासमें तल्लीन रहना योग्य है।

कषायविषयार्तानां देहिनां नास्ति निर्वृतिः।
तेषां च विरमे सौख्यं जायते परमाद्भुतम् ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(कषायविषयार्तानां) चार कषाय और पांचों इन्द्रियके विषयोंसे जो पीडित हैं उन (देहिनां) शरीरधारियोंको (निर्वृतिः) मोक्ष (नास्ति) का लाभ नहीं होसक्ता है (तेषां च) उनके ही (विरमे) छोडने पर (परम अद्भुतं) परम आश्चर्यकारी (सौख्यं) सुख (जायते) प्रगट होजाता है।

भावार्थ—जबतक आत्माके परिणाममें क्रोधादि कषायोंमें विकार मलिनता कर रहे हैं तथा इन्द्रियोंकी चाहकी दाह जलन उत्पन्न कर रही है तबतक बन्ध बढ़ता जायगा। रागी, द्वेषी, मोही जीव ही कर्मोंका बंध करता है। ऐसी दशामें मोक्षका होना असंभव है। जब इन विषय कषायोंका मैल आत्मीक भावसे दूर होजायगा तब उसी समय आत्मानंदका स्वाद आयगा जिस सुखकी कोई उपमा नहीं दी जासक्ती है। इस सुखका ऐसा बढ़िया स्वाद है कि विचारनेसे आश्चर्य होता है।

कषायविषयै रोगैश्चात्मा च पीड़ितः सदा।
चिकित्स्यतां प्रयत्नेन जिनवाक्सारभैषजैः ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ–(कषायविषयै रोगैः च) कषाय व विषय रूपी रोगोंसे ही (च आत्मा) यह आत्मा (सदा पीडितः) सदा कष्ट पा रहा है, इसलिये (जिनवाक्सारभैषजैः) जिन वचनके द्वारा बताई हुई उत्तम औषधियोंसे (प्रयत्नेन उद्योग करके (चिकित्स्यतां) दवाई करनी उचित है।

भावार्थ- इस अज्ञानी आत्मबल खोए हुए प्राणीको कषायोंका व इन्द्रियके विषयभोगोंकी चाहनाका रोग लगा हुआ है। इसलिये उचित है कि जिनवाणीने जो रत्नत्रय धर्मरूपी औषधि बताई है उसका उद्योग करके सेवन किया जावे तो शीघ्र ही विषयकषायोंका रोग मिट जायगा और यह प्राणी स्वास्थ्य लाभ करके सच्ची सुख शांति प्राप्त करेगा।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः।
संयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ-(विषयोरगदष्टस्य) जिसको विषयरूपी नागने काटा हो (कषायविषमोहितः) व जो कषायरूपी जहरसे मूर्छित हो (देहिनाम्) ऐसे प्राणियोंके लिये (संयमः हि) संयम ही (महामंत्रः) महामंत्र। है यह (सर्वत्र, सर्व स्थानोंमें (त्राता) रक्षा करनेवाला है।

भावार्थ-विषयोंकी चाहकी दाहरूपी नागिनीसे डंसे हुए प्राणीको लोभादि कषायका तीव्र विष चढ़ जाता है। इस विषके झाड़नेका या जिस कर्मके उदयसे कषायका वेग चढ़ा है उस कषायके अनुभागको या उसके बलको घटाने या क्षय करनेके लिये संयमका साधन ही महामंत्र है। यही उस विषको उतारकर निर्विष करनेवाला है। अतएव हितकांक्षीको उचित है कि श्रद्धा सहित जैसे औषधिका प्रयोग लाभकारी होता है वैसे ही श्रद्धासहित मुनि या श्रावकका संयम आराधन करे, महाव्रतों या अणुव्रतोंको पाले, अंतरङ्गमें मन व इन्द्रियोंको संयमित करके आत्मानुभव करे। यही निश्चय संयम है। यही वह महान मंत्र है जिससे कषायका सर्व विष उतर जाता है और यह आत्मा परमात्मा होजाता है। संयम हर स्थानमें विषयनागकी चोटसे बचानेवाला है।

कषायकलुषो जीवः रागरंजितमानसः
चतुर्गतिभवाम्भोधौ भिन्ना नौरिव सीदति ॥२१॥

अन्वयार्थ-(कषायकलुषः जीवः) जो प्राणी कषायोंसे मलीन व कलंकित होरहा है (रागरंजितमानसः) जिसका मन रागभावसे रंगा हुआ है वह (चतुर्गतिभवाम्भोधौ) चार गतिरूपी संसारसमुद्रमें (भिन्ना नौः इव) टूटी हुई नौकाके समान (सीदति) दुःख उठाता है।

भावार्थ–जैसे छिद्रसहित फटी नौकामें पानी भर जाता है तब वह समुद्रमें डंवांडोल होकर डूबने लगती है व बहुत ही मुसीबतमें आजाती है वैसे ही इस संसारी प्राणीके राग, द्वेष, मोह भावोंके कारण कर्मोंका बंध होजाता है जिससे यह नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव चारों ही गतियोंमें कहीं कहीं २ डावांडोल होकर फिरता रहता है और तीव्र शारीरिक तथा मानसिक दुःख उठाता है, जिनको स्मरण करनेसे कलेजा कांप जाता है, अतएव उचित है कि इस कषायके विषको शमन किया जावे।

कषायवषगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम्।
तेनासौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु दारुणम्॥ ३२॥

अन्वयार्थ–(कषायवशगः) कषायोंके आधीन होता हुआ (जीवः) यह जीव (दारुणम्) तीव्र (कर्म) कर्म (बध्नाति) बांध लेता है (तेन) इसी कारण (असौ) यह जीव (भवकोटिषु) करोड़ों जन्मोंमें (दारुणम्) महान घोर (क्लेशं) कष्टको (प्राप्नोति) भोगता है।

भावार्थ–जो अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव है वह कषायोंके उदयके आधीन होकर कुदेव, कुधर्म, कुगुरु, आराधनमई मिथ्यात्वको, जुआ खेलन, मांस भक्षण, मदिरापान, चोरी, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्री सेवन इन व्यसनरूप अन्यायको तथा हिंसाकारक व रोगवर्द्धक अभक्ष्य पदार्थोंको सेवन करके न्याय अन्यायका विचार छोड़कर धन एकत्र करनेमें व विषयभोगकी सामग्री प्राप्त करनेमें मूढ़ होजाता है, आसक्त होजाता है, धर्मके पथसे

बिलकुल भ्रष्ट होजाता है। ऐसा जीव तीव्र कर्मोंको बांधकर उन कर्मोंके उदयसे करोड़ों कष्टप्रद जन्मोंमें महान असहनीय दुःख भोगता है। एकेंद्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिकायमें पराधीनपने जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे वचन अगोचर हैं।

कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम्।
संसारवीजतां याति विमुक्तं मोक्षवीजताम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ-(मिथ्यात्वेन) मिथ्यात्व (च कषायविषयैः) और कषाय तथा विषयोंसे (संयुतम्) गृसित (चित्तं) जीव (संसारबीजतां याति) संसारके बीजको बोया करता है (विमुक्तं) जो इनसे छूट जाता है वह (मोक्षबीजताम्) मोक्षका बीज बोता है।

भावार्थ-वास्तवमें मिथ्यात्वके कारण यह जीव संसारको व संसारके सुखको ही सब कुछ मान लेता है। इस वासनासे अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदय जागृत रहता है। उसीके प्रभावसे विषयभोगोंका तीव्र लोभी होजाता है। इस कारण फिर भी निरंतर अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्मको बांधा करता है-संसारको बढ़ाता रहता है। इसलिये जो विवेकी इस मिथ्यात्वको व अनंतानुबंधी कषायको वमन कर देता है वह सम्यग्ज्ञानी होकर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मोक्षका बीज बोता है। वह मोक्षके फलको कुछ काल पीछे पासकेगा। इसलिये हितकांक्षीको योग्य है कि वह इनके उपशमके लिये जिनवाणीको सुने, मनन करे, धारण करे व उसके अनुसार तत्वोंपर श्रद्धा लावे व देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप, सामायिक व दान इन छः कर्मोंका नित्य पालन करे।

यही तत्वका मनन वह उपाय है जिससे स्वयं मिथ्यात्वादिका बल क्षीण होता जायगा और सम्यक्तभाव निकट आता जायगा—संसारका बीज क्षय होगा व मोक्षका वृक्ष बढ़ेगा ।

कषायरहितं सौख्यं इन्द्रियाणां च निग्रहे ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनो भवभेदि यत् ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियाणां च) पांचों इन्द्रियोंके ही निरोध करनेसे (आत्मनो) इस आत्माके (परमोत्कृष्टं) सबसे बढ़िया (कषायरहितं) वीतराग (सौख्यं) आनन्द (जायते) उत्पन्न होजाता है (यत्) जो (भवभेदि) संसारका छेदक है ।

भावार्थ—ज्ञानोपयोग पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लुभाकर अपने आत्माकी तरफ नहीं आता है । इसलिये आत्माके स्वाभाविक परम निराकुल वीतराग व श्रेष्ठ आनन्दका लाभ नहीं करता है। यदि यह सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे उपयोग हटाले और उसे अपने आत्माकी ओर झुकाले तो उसी समय अतींद्रिय आनन्दका स्वाद आजावे । जैसे मिश्रीके स्वादमें रसना द्वारा उपयोगके लगते ही तुर्त मिष्ठताका स्वाद आता है, वैसे ही जब आत्मा आत्मस्थ होता है तब ही वीतराग ध्यान उत्पन्न होता है। इस ध्यानसे संसारके कारणीभूत कर्मोंका क्षय भी होता है, तथा शुद्धात्मानुभवसे वर्तमानमें स्वात्मानन्द भी मिलता है।

कषायान् शत्रुवत् पश्येद्विषयान् विषवत्तथा ।
मोहं च परमं व्याधिमेवमूचुर्विचक्षणाः ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(कषायान्) चारों कषायोंको (शत्रुवत्) रिपुके समान (विषयान्) इन्द्रियोंके विषयोंको (विषवत) विषके बराबर

(तथा) और (मोहं च परम व्याधिं, मोहको बड़ा भारी रोग (पश्येत्) देखना चाहिये (एवं) इसतरह (विचक्षणाः) प्रवीण ज्ञानी पुरुषोंने (ऊचुः) उपदेश दिया है।

भावार्थ—अनुभवशील महात्मा ज्ञानियोंकी यह शिक्षा है कि जो कोई अपना भला चाहता है उसको उचित है कि मिथ्यात्वभावको भयंकर रोगके समान जानकर उसका शीघ्रसे शीघ्र इलाज करे। क्रोधादि कषायोंको कर्मबंधके कारक जानकर अपना शत्रु समझे क्योंकि इनहीके कारण इस प्राणीको संसारमें जन्म मरण करना पड़ता है तथा इन्द्रियोंके विषयोंको विषके समान देखकर उनका स्पर्श भी न करे क्योंकि ये विषय सेवनेपर तृष्णाका ऐसा विष फैला देते हैं जो भव-भवमें कष्ट देता है। व यह बिचारा भोला प्राणी संसारके जालमें उलझता ही चला जाता है। फिर अनन्तकालमें भी निकलना दुर्लभ होता जाता है।

कषायविषयैश्चौरैर्धर्मरत्नं विलुप्यते।
वैराग्यखड्गधाराभिः शूराः कुर्वन्ति रक्षणम् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(धर्मरत्नं) यह रत्नत्रयधर्म (कषायविषयैः) कषाय तथा विषयरूपी (चौरैः) चोरोंसे (विलुप्यते) चुराया जाता है (शूराः) वीर पुरुष (वैराग्यखड्गधाराभिः) वैराग्यरूपी तलवारकी धारोंसे उनको रोककर व निग्रहकर (रक्षणम् कुर्वंति) रत्नत्रयधर्मकी रक्षा करते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है। निश्चयसे यह आत्मानुभवरूप है। यह आत्माका स्वभाव ही

है। इसको कषायोंने और विषयोंने ऐसा छिपा दिया है कि इस धर्मरत्नका पता ही नहीं चलता वही सच्चा योद्धा है जो आकिंचन्य-धर्मकी खड्ग लेकर उसके ऐसे तीव्र प्रहार विषयकषायरूपी चोरोंको देता है कि वे घायल होकर भाग जाते हैं व रत्नत्रय धर्मकी रक्षा होजाती है। इस जगतमें मेरा कुछ नहीं है, मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं ऐसा भाव आकिंन्य धर्म है। यही भाव परम वैराग्यकी खडग है।

सम्यग्दर्शनका महत्व।

कषायकर्षणं कृत्वा विषयाणामसेवनम्।
एतत् भो मानवाः पथ्यं सम्यग्दर्शनमुत्तमम्॥ ३७॥

अन्वयार्थ-(भो मानवाः) ऐ मानवो (कषायकर्षणं) कषायोंको कम (कृत्वा) करके (विषयाणां) विषयोंका (असेवनम्) सेवन नहीं करना (एतत पथ्यं) इसका पथ्य या हितकारी उपाय (उत्तमं) उत्तम निर्दोष (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ-विषय कषायोंको दूर करनेके लिये पथ्यके समान उपाय निर्दोष सम्यग्दर्शन है। जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट होजाता है तब अटलप्रतीति होजाती है कि मेरा आत्मा मूलमें परमात्माके समान ज्ञाताद्रष्टा अविनाशी है तथा सच्चा सुख मुझे स्वतंत्रतासे अपने ही आत्माके अनुभवसे प्राप्त होसक्ता है व विषय सुख खारे पानी पीनेके समान विषय चाहको शमन नहीं करता है, उल्टा बढ़ा

देता है। यही श्रद्धा कषायोंका अनुभाग या बल कम करती हुई उनको कृष करती हुई चली जाती है। जैसे२ कषाय मंद होती है वैसे वैसे विषयोंके भोगोंके सेवनकी तरफ प्रवृत्ति कम होती जाती है। आचार्य कहते हैं कि हे मानवो! इस सम्यग्दर्शनका प्रकाश करो और इसको यत्नसे रक्खो ।

कषायातपतप्तानां विषयामयमोहिनाम् ।
संयोगायोगखिन्नानां सम्यक्त्वं परमं हितम् ॥३८॥

अन्वयार्थ–(कषायातपतप्तानां) जो प्राणी कषायोंकी आतापसे जल रहे हैं (विषायामयमोहिनाम्) वही विषयरूपी रोगसे या विषसे मूर्छित हैं तथा (संयोगायोगखिन्नानां) जो अनिष्टसंयोग व इष्टवियोगसे दुःखित हैं उनके लिये (सम्यक्तं) यह सम्यग्दर्शन (परमं हितम्) परम हितकारी है ।

भावार्थ–तीव्र गर्मीके आतापसे पीड़ितको शीत जलका सरोवर मिलना व उसमें स्नान करना जैसे हितकारी है वैसे क्रोधादि कषायोंकी आताप अपने आत्माके शुद्ध शान्त आनंदमय सरोवरमें स्नान करनेसे शमन होजाती है । जैसे विषको दूर करनेके लिये अमृत जड़ीका सेवन हितकारी है वैसे विषयोंकी चाह अतीन्द्रिय आत्मानंदरूपी अमृतके पानसे बुझ जाती है । कर्मोंके उदयसे अनिष्टका संयोग व इष्ट-स्त्री-पुत्र मित्रादिका वियोग होता है उसकी चिंता शुद्धात्माके मननकी शांत हवा लगनेसे मिट जाती है । अतएव आत्मप्रतीति रूप सम्यग्दर्शन विषयकषायोंके दूर करनेका सबसे बड़ा उपाय है ।

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुतः।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥३९॥

अन्वयार्थ-(सम्यक्त्वेन) सम्यग्दर्शनसे (समायुतः) विभूषित (नरकवासः) नरकका वास (अपि) भी (वरं) अच्छा है। (तु) परन्तु (सम्यक्त्वहीनस्य) सम्यग्दर्शन रहितका (दिवि) स्वर्गमें (निवासो) रहना (न राजते) नहीं शोभता है।

भावार्थ-क्योंकि विषयभोगोंसे तृप्ति नहीं आती, आकुलता नहीं मिटती इसलिये स्वर्गोंके देवोपुनीत सुखकी तृष्णाकी दाह नहीं दूर कर सक्ता। वहां बाहरी सुख सामग्री रहते हुए भी अंतरङ्गमें क्लेशभाव है, आर्तध्यान है, जबकि नरकमें यद्यपि बाहरी बहुत कष्ट हैं तथापि अंतरङ्गमें सम्यग्दर्शन होनेसे उस नारकीको निज आत्माके आनन्दका स्वाद आता है। इससे वह परम संतोषी व सुखी है। नरकमें अशुभके उदयको वह स्वकृत कर्मकी निर्जरा समझके संतोषसे भोग लेता है। नरकमें रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है जबकि स्वर्गवासी देव मिथ्यादृष्टि संसारमार्गी है। स्वर्गसे आकर एकेन्द्रिय व वेयेन्द्रिय तिर्यंचका तुच्छ मानव जन्मता है जबकि नर्कसे निकलकर सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर तक होजाता है। सम्यग्दर्शन एक अपूर्व रत्न है। जिसके हाथ लग गया वह मानो परमात्मा ही होगया।

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शंकादिमलवर्जितम्।
संसारदुःखदारिद्र्यं नाशयेत्सु विनिश्चितम् ॥ ४० ॥

अन्वयार्थ-(शंकादिमलवर्जितम्) शंका आदि आठ मुख्य दोषोंसे (सम्यक्त्वं) यह सम्यग्दर्शन (परमं रत्नं) परम रत्न है,

(संसारदुःखदारिद्र्यं) संसारके दुःखरूपी दालिद्रको यह (सुनिश्चितम्) निश्चयसे (नाशयेत) नाश कर देता है।

भावार्थ–जैसे किसी दलिद्री मानवको निर्दोष रतन मिल-जावे तो वह उसे बेच कर लक्षपति करोडपति होजाता है वैसे जिस किसीको सम्यग्दर्शरूपी रत्न मिल जाता है वह सर्व सांसारिक कष्टोंको मेटकर परम सुखी होजाता है। उसकी अनादिकालसे चली आई हुई तृष्णाकी प्यास मिट जाती है। जैसे जंगलमें मृगको पानी न मिलनेसे भ्रमसे पानीको झलकानेवाली घास मृगकी तृषाको शमन नहीं करती है वैसे मिथ्यात्वीको भ्रमसे माना हुआ विषयसुख तृष्णाको शमन नहीं कर सक्ता है। सच्चा पानी मिलनेसे जैसे हिरन तृप्त होजाता है वैसे आत्मसुख मिलनेसे सम्यग्दृष्टि परम संतोषी रहता है। जगतमें सम्यग्दर्शनके समान कोई अमूल्य रत्न नहीं है। इस सम्यग्दर्शनको व्यवहारमें आठ अंग सहित पालना चाहिये तब उसके विरोधी आठ मल नहीं रहेंगे।

१ निःशंकितांग–सात तत्वोंमें व देव शास्त्र गुरुमें दृढ़ श्रद्धा रखनी व निर्भय हो सत्य मोक्षमार्गपर चलना। २ निःकांक्षित–विषय सुखको पराधीन, दुःखका बीज व संसारके भ्रमानेवाला समझना। ३ निर्विचिकित्सा–दुःखी अनाथ रोगी दलिद्री नीचको देखकर घृणा न करनी, दयाभाव रखना। ४ अमूढ़दृष्टि–मूर्खतासे देखादेखी किसी देव शास्त्र गुरु व धर्मकी सेवा न करनी। ५ उपगूहन–परनिन्दा व परदोषग्रहण स्वभाव न रखकर परको सुधारनेका भाव रखना व अपने औगुण टालकर गुणको बढ़ाना।

६ स्थितीकरण–अपना मन धर्मसेवनसे शिथिल होता हो तो दृढ़ करना व दूसरोंको उपदेश देकर व सहायता करके धर्ममें दृढ़ करना।
७ वात्सल्य–धर्मात्माओंके साथ गौवच्छके समान प्रेम रखना।
८ प्रभावना–जैन धर्मका प्रकाश करके अज्ञान व मिथ्यात्व मेटना।
इन आठ अंगोंको जो व्यवहारमें पालता है, उसके मनमें सच्ची आत्मप्रतीति है, उसका सम्यक्त निर्मल है ऐसा प्रगट होता है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ (सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य) जो भव्य जीव सम्यक्दृष्टि है उसको (ध्रुवं) निश्चयसे (निर्वाणसंगमः) निर्वाणका लाभ होगा (अस्य) इस (मिथ्यादृशः जीवस्य) मिथ्यादृष्टि जीवका (सदा) हमेशा (संसारे) इस संसारमें (भ्रमणं) भ्रमण रहेगा।

भावार्थ–सम्यक्दृष्टी जीव उसे ही कहते हैं जिसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मैं स्वयं निश्चयसे मोक्ष स्वरूप हूं, मैं स्वयं सिद्धसम शुद्ध हूं तथा यह कर्मसंयोग मेरे स्वभावका घातक है, इसे अवश्य दूर कर ही देना चाहिये। बस, वह आत्मानुभवरूपी मसालेको रगड़कर अपने आत्मारूपी वस्त्रको अवश्य शुद्ध करके कभी न कभी बहुत शीघ्र मुक्त हो जायगा। विवेकी जीव मलीन वस्त्रको देखकर तुर्त उसको शुद्ध कर डालते हैं। मिथ्यादृष्टीको न मोक्षकी न मोक्षमार्गकी श्रद्धा होती है। वह संसारके क्षणिक सुखको ही सुख मानता है। इसलिये परपदार्थोंके संग्रहमें धनधान्यादिमें आसक्त

रहता है। वह कभी संसारसे पार नहीं होसक्ता। वह तो पाप पुण्यके अनुसार इस भयानक संसारवनमें भटकता ही रहेगा।

पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः॥ ४२॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (सम्यक्त्वदृढमानसः) सम्यग्दर्शनको दृढ़तासे रखनेवाला है (सदाचारसम्पन्नः) व सदाचारमें चलनेवाला है (असौ) वही (पंडितः) पंडित है (असौ) वही (विनीतो) विनयवान है (प्रियदर्शनः) वही प्रेमसे दर्शनयोग्य है (धर्मज्ञः) वही धर्मका जाननेवाला है।

भावार्थ—पंडित वही है जिसके पंडा अर्थात् भेदविज्ञान है। जो आत्मतत्वको सर्व परसे भिन्न समझकर उसका परम प्रेमी है अर्थात् सम्यग्दृष्टी है और फिर श्रद्धानुकूल मोक्षमार्गमें चलनेवाला है। केवल शास्त्रोंका ज्ञाता पंडित नहीं है। विनयवान शिष्य भी वही है जो सम्यग्दर्शनकी व चारित्रकी बड़ी भक्ति करता है। वही सत्पुरुष दर्शनयोग्य है जिसके भावोंमें सम्यग्दर्शन और चारित्र प्रकाशमान है। धर्मका ज्ञाता भी वही है जो भले प्रकार आत्मतत्वको जानकर उसका स्वाद लेता है। सम्यग्दर्शन बिना न कोई पंडित होसक्ता है न भक्त न दर्शनीय और न धर्मज्ञाता हो सक्ता है।

जरामरणरोगानां सम्यक्त्वज्ञानभेषजैः।
शमनं कुरुते यस्तु स च वद्यो विधीयते॥४३॥

अन्वयार्थः—(यः तु) जो कोई (सम्यक्त्वज्ञानभेषजैः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी औषधियोंसे (जरामरणरोगानां)

जरा मरण रोगोंको (शमनं कुरुते) दूर करता है (स च) वही (वैद्यः) वैद्य (विधीयते) कहा जाता है।

भावार्थ—शरीर क्षणभंगुर है। इसके रोगोंको शांत करनेवाला जडवैद्य है। यथार्थ तत्त्वसे वैद्य नहीं है। सच्चा वैद्य वही है जो आत्मज्ञानकी औषधि सेवनकरके अपने भी अनादि कालके पीछे लगे हुए जन्म जरा मरणरूपी रोगोंको दूर करता है और दूसरोंको भी आत्मज्ञानकी औषधि बताकर उनके रोग मिटाता है। जन्म जरा मरणके समान कोई भी भयंकर रोग नहीं है। इनके दूर करानेकी दवा रत्नत्रय धर्म है। उसमें भी सम्यग्दर्शन सहित आत्मज्ञान प्रधान है। इसका प्रयोग करनेवाला ही तत्वज्ञानी वैद्य है।

जन्मान्तरार्जितं कर्म सम्यक्त्वज्ञानसंयमैः।
निराकर्तुं सदा युक्तमपूर्वं च निरोधनम् ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वज्ञानसंयमैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रके द्वारा (जन्मान्तरार्जितं) जन्म जन्ममें संचय किये हुए (कर्म) कर्मोंको (सदा) नित्य ही (निराकर्तुं) दूर करना (च अपूर्वं) तथा आगामी आनेवाले कर्मोंको (निरोधनम्) रोकना (युक्तं) योग्य है।

भावार्थ—विना भोगे कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग शक्ति घटाकर आत्माके प्रदेशोंसे छुड़ा देना अविपाक निर्जरा है। तथा नवीन आनेवाले कर्मोंको न आने देना संवर है। संवर व निर्जरा दोनोंका उपाय आत्मध्यान है। इसीको निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता कहते हैं। आत्मध्यानकी अग्निसे कर्म जलते हैं व नवीन नहीं

आते। अतएव सम्यग्दर्शनके प्रतापसे आत्माको शुद्ध कर लेना योग्य है। क्योंकि इसके विना ज्ञान व चारित्र कुज्ञान व कुचारित्र है।

सम्यक्त्वं भावयेत् क्षिप्रं सज्ज्ञानं चरणं तथा।
कृच्छात्सुचरितं प्राप्तं नृत्वं याति निरर्थकं ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ-(क्षिप्रं) शीघ्रही (सम्यक्तं) सम्यग्दर्शनकी (सज्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञानकी (तथा चरणं) तथा सम्यक्चारित्रकी (भावयेत्) भावना करनी योग्य है (कृच्छात्) बडी कठिनतासे (सुचरितं) व भले चारित्रके पालनसे (प्राप्तं) पाया हुआ (नृत्वं) यह मनुष्य जन्म (निरर्थकं) वृथा (याति) चला जा रहा है।

भावार्थ-रत्नत्रय सहित आत्मध्यानका अभ्यास हमको शीघ्रही प्रारम्भ कर देना चाहिये। फिर कर लेंगे ऐसा प्रमाद न करना चाहिये। क्योंकि एक तो बड़े भारी पुण्यके उदयसे बड़ी कठिनतासे यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, जिस जन्ममें ही संयमका आराधन होसक्ता है। तीन गतियोंमें संयम नहीं होसक्ता, कर्म निर्जरा करनेवाला पूर्ण ध्यान नहीं होसक्ता। दुसरे इस कर्मभूमिसे मनुष्य जन्मकी स्थिति वनी रहनेका नियम नहीं है, अकाल मरण होसक्ता है। इसलिये एक घड़ी वृथा न खोकर निरंतर आत्मज्ञान सहित ध्यानका अभ्यास करके इस नरजन्मको सफल कर लेना चाहिये। जो रत्नत्रय धर्मका साधन नहीं करते हैं वे इस जन्मको वृथा खोते हैं।

अतीतेनापि कालेन यन्न प्राप्तं कदाचन।
तदिदानीं त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥४६॥

अन्वयार्थ-(अतीतेन कालेन) भूतकालमें (कदाचन अपि)

कभी भी (यत् न) जिसे नहीं (प्राप्तं) पाया था (तत्) उस (उत्तमम्) श्रेष्ठ (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शनको (त्वया) तूने (इदानीं) अब (प्राप्तं) पालिया है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन खेवटिया है, भवसागरसे पार करनेवाला है। यदि यह मिल गया होता तो भूतकालमें इस संसार-सागरमें भटकना नहीं पड़ता। यही सीधे मोक्षद्वीपमें लेजानेवाला है। बड़े ही शुभ संयोगसे अब जो इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया गया है तो उचित है कि इसको अमूल्य लाभ समझ करके इसको दृढ़-तासे रक्खा जावे। इस आत्मश्रद्धा सहित आगम ज्ञानको बढ़ाते हुए जितना २ कषायोंका वर्ग मन्द हो उतना २ चारित्रको धारते हुए आत्मशुद्धिका प्रयत्न प्रमाद छोड़कर कर लेना उचित है। अवसर चूकनेपर पछताना पड़ेगा।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्रं कुरु यत्नतः।
सद्धर्मे च परां भक्तिं शमे च परमां रतिम् ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थ—(उत्तमे) श्रेष्ठ (जन्मनि) जन्म (प्राप्ते) प्राप्त हुआ है तब (यत्नतः) पुरुषार्थ करके (चारित्रं कुरु) चारित्रको पाल (च) तथा (सद्धर्मे) सच्चे धर्ममें (परां) उत्तम (भक्तिं) भक्तिकर (च शमे) और शांतभावमें (परमां रतिम्) परम प्रीति कर।

भावार्थ—मानव जन्मके समान कोई उत्तम जन्म नहीं है। ऐसे दुर्लभ जन्मको पाकर बुद्धिमान मानव वही है जो उसको सफल करे। अतएव सम्यग्दर्शन पूर्वक मुनि या श्रावकका चारित्र शक्तिके अनुसार पालना चाहिये। रत्नत्रयमई धर्ममें दृढ़ भक्ति रखनी चाहिये।

तथा रागद्वेष छोडकर वीतरागभावमें रत रहना चाहिये । आत्मानुभवके अभ्याससे वीतरागभाव होता है । इसलिये निरंतर आत्मचिन्तवनसे संवर व निर्जराका उपाय करके आत्माको शुद्ध करना चाहिये । यह अवसर फिर न मिलेगा ।

अनादिकालजीवेन प्राप्तं दुःखं पुनः पुनः ।
मिथ्यामोहपरीतेन कषायवशवर्तिना ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थ–(अनादिकाल) अनादि कालसे (मिथ्यामोहपरीतेन) मिथ्यादर्शनके संयोगसे (कषायवशवर्तिना) कषायोंके वश होकर (जीवेन) इस जीवने (पुनः पुनः) वार वार (दुःखं प्राप्तं) कष्ट उठाए हैं ।

भावार्थ–यह जगत अनादि है । अनादिसे ही इस संसारी प्राणीका इस संसारमें भ्रमण होरहा है । इसका कारण मोहभाव है। मिथ्या श्रद्धानसे हमने संसारवासको ही उत्तम जाना, विषयसुखको ही सुख समझा, अतीन्द्रिय आनंद व मोक्षतत्वकी कभी प्रतीति नहीं की; इस कारण तृष्णाकी पूर्तिके लिये लोभ कषायमें फंसकर मायाचार, मान व द्वेषियोंसे क्रोध भाव करके इस मूढ़ने वार वार घोर कर्म बांधे और वार वार दुर्गतिमें पड़कर घोर असहनीय कष्ट पाए । अब उचित है कि आत्माकी रक्षा दुर्गतिसे की जावे । अतएव कर्मबन्ध न होने व पुराने संचितको क्षय करनेका उद्यम करना उचित है ।

सम्यक्त्वादित्यसंभिन्नं कर्मध्वान्तं विनश्यति ।
आसन्नभव्यसत्वानां काललब्ध्यादिसन्निधौ ॥४९॥

अन्वयार्थ–(काललब्ध्यादिसन्निधौ) काललब्धि आदिकी

निकटता होनेपर (आसन्नभव्यसत्वानां) निकट भव्य जीवोंका (कर्मध्वांतं) कर्मोंका अंधकार (सम्यक्त्वादित्यसंभिन्नं) सम्यग्दर्शन-रूपी सूर्यसे दूर किया हुआ (विनश्यति) नाश होजाता है।

भावार्थ-उद्यम करते करते जब मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषायोंका बल इतना कम होजावे कि करणलब्धिके प्रतापसे उनका उपशम होकर सम्यक्दर्शनका प्रकाश होजावे तब ही काललब्धि आगई ऐसा समझना चाहिये। जिस समय जो काम हो वही उसकी काललब्धि है। यह काललब्धि निकट भव्योंको ही प्राप्त होती है। जिनका संसारवास शीघ्र छूटनेवाला है वे ही निकट भव्य हैं। यह बात सर्वज्ञके ज्ञानगोचर है। सम्यग्दर्शन एक अपूर्व प्रकाश करनेवाला परम तेजस्वी सूर्य है। जब यह प्रकाश होता है तब अनादि कालका मिथ्या अंधेरा बिलकुल लोप होजाता है, पूर्वबद्ध कर्म भी ढीले पड़ जाते हैं। जिस वृक्षके पत्ते हरे हों पर जड़ कट गई हो उस समान सम्यग्दृष्टीके कर्मोंकी स्थिति होजाती है। सम्यक्तके होते हुए आत्मानुभवकी धूप जितनी २ तेज होती है उतनी ही जल्दी शेष कर्मोंका शोषण होजाता है और यह आत्मा मुक्त होजाता है।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन विषयासङ्गवर्जितः।
कषायविरतेनैव भवदुःखं विहन्यते ॥ ५० ॥

अन्वयार्थ-(विषयासंगवर्जितः) जो इन्द्रियोंके विषयोंकी आसक्तिसे रहित है वह (सम्यक्त्वभावशुद्धेन) सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे (कषायविरतेन) व कषायोंसे विरक्त होनेसे (भवदुःखं) संसारके दुःखोंको (एव) अवश्य (विहन्यते) नाश करदेता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीवके भाव नियमसे आत्मरुचि सहित होते हैं। वह अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी होता है। अतएव उसके भावोंमें न विषयोंकी आसक्ति होती है न कषायोंकी तीव्रता होती है। वह आत्मानुभवका अभ्यास करता रहता है। इस कारण उसके वीतरागताका अंश बढ़ता जाता है, सरागताका अंश घटता जाता है, पुरातन कर्मोंकी निर्जरा अधिक होती है, नवीन कर्मोंका संवर होता है, जिससे वह सब कर्मोंसे रहित हो मुक्त होजाता है।

संसारध्वंसनं प्राप्य सम्यक्त्वं नाशयन्ति ये।
वमन्ति तेऽमृतं पीत्वा सर्वव्याधिहरं पुनः॥ ५१॥

अन्वयार्थ—(संसारध्वंसनं) संसारको नाश करनेवाले (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शनको (प्राप्य) प्राप्त करके (ये) जो कोई (नाशयंति) उस सम्यक्तको नाश कर देते हैं—फिर मिथ्यात्वी होजाते हैं (ते) वे मानो (सर्वव्याधिहरं) सर्व रोगोंको दूर करनेवाले (अमृतं) अमृतको (पीत्वा) पीकर (पुनः) फिर (वमन्ति) उसका वमन कर देते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन रूपी रत्न इतना अमूल्य है कि इसके सामने चक्रवर्ती व इन्द्रादिक पद सब तुच्छ हैं। अनादिकालके तृष्णारूपी रोगको शमन कर परमानन्दरूपी अमृतको पिलाकर यह सम्यग्दर्शन भव्यजीवको अमर, कृतकृत्य, निराकुल, भव भ्रमण रहित कर देता है। ऐसे सम्यक्तका मिलना अत्यंत कठिन है। जिनको कदाचित् मिल जावे उनको बहुत यत्नके साथ रखना चाहिये। आगम ज्ञान व संयमके अभ्याससे उसे अधिक अधिक शुद्ध करना चाहिये। जो

कोई सम्यक्त्वको पाकर प्रमादी होजाते हैं, ज्ञान और चारित्रकी वृद्धि नहीं करते हैं उनका सम्यक्त भाव बाहरी विपरीत कारणोंके मिलनेपर छूट जाता है । सम्यक्तका नाश होना मानो अमृतको पीकर फिर उसे वमन करके पीछे फेंक देना है । इससे बढ़कर कोई मूर्खता नहीं है । सम्यक्‌दर्शन तीन लोकमें सबसे अधिक आत्माका हितकारी मित्र है । इसके प्रतापसे मानवोंके सिवाय वैमानिक देवकी आयुके और कोई आयुका बंध ही नहीं होता है ।

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥५२॥

अन्वयार्थ-(दुरात्मनः) इस दुष्ट दुखदाई (संसारस्य) संसारका (परमं बीजं) उत्पन्न करनेवाला बड़ा भारी बीज (मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शन है (तस्मात्) इसलिये (मोक्षसौख्यं) मोक्षके सुखको (जिघृक्षुणा) जो चाहता है उसे (तत् एव) उस मिथ्यात्वको अवश्य (मोक्तव्यं) त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ-मिथ्यात्वभाव उसे कहते हैं जिससे सत्यको असत्य, असत्यको सत्य माना जावे । आत्माको शुद्ध न मानके स्वभावसे अशुद्ध मानना, इन्द्रियसुखको सच्चा सुख समझना, कषायोंके रमनेमें रुचि रखना, वीतराग भावका प्रेम न प्राप्त करना, स्वतंत्रताकी भावना न पाकरके संसारके प्रपंचमें ही सारपना समझना, सच्चे वीतराग सर्वज्ञदेव, स्याद्वाद वाणी, निर्ग्रंथ गुरु, वीतराग विज्ञानमय जिनधर्मकी श्रद्धा न पाकर रागी द्वेषी देव, एकान्त वचन, सग्रंथ साधु, सराग धर्ममें देव, शास्त्र, गुरु व धर्मकी श्रद्धा रखना मिथ्या-

दर्शन है । इस भावसे प्रेरित होकर यह प्राणी हिंसादि घोर पापोंको करता है, कर्मोंका बंध करके दीर्घकाल भववनमें भटकता है, जन्म मरण इष्ट वियोग अनिष्ट संयोगके अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट पाता है । जबतक इसका त्याग न हो और सम्यक्तका लाभ न हो तबतक मोक्षके आनंद पानेका मार्ग हाथमें नहीं आसक्ता। अतएव यत्न करके इस मिथ्यात्वका त्याग करना उचित है ।

आत्मतत्वं न जानन्ति मिथ्यामोहेन मोहिताः ।
मनुजा येन मानस्था विप्रलुब्धाः कुशासनैः ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थ–(येन) उस (मिथ्यामोहेन) मिथ्यात्वभावसे (मोहिताः) मूढ़ होते हुए (मानवाः) मनुष्य (कुशासनैः) मिथ्या उपदेशोंसे (विप्रलुब्धाः) मिथ्यामार्गके लोभी होते हुए (मानस्था) शरीरके अहंकारमें फंसकर (आत्मतत्वं) आत्मीक तत्वको (न जानन्ति) नहीं जान पाते हैं ।

भावार्थ–एक तो मानवोंके भीतर अनादि कालका अग्रहीत मिथ्यात्व होता ही है जिससे वे शरीरासक्त बने ही रहते हैं । दूसरे उनको विपरीत मार्गका उपदेश मिल जाता है । एकान्त व असत्य धर्मके उपदेशोंसे लुभाकर वे कुदेवादिकी भक्तिमें व सराग क्रियाओंमें व हिंसाकारक आचरणोंमें सुखके लोभी हो तल्लीन होजाते हैं । उनको वैराग्यमयी आत्मतत्वका उपदेश नहीं सुहाता अतएव वे आत्मज्ञानको कभी भी नहीं जान पाते हैं। रात दिन मैं ऐसा मैं ऐसा, इस अहंकारमें ग्रसित रहते हैं। मैं शुद्धात्मा हूं यह ज्ञान उनमें कभी जागृत नहीं होता है ।

धर्माचारकी प्रेरणा।

दुःखस्य भीरवोऽप्येते सद्धर्मं न हि कुर्वते।
कर्मणा मोहनीयेन मोहिता बहवो जनाः ॥५४॥

अन्वयार्थ–(दुःखस्य भीरवः) दुःखोंसे भयभीत (अपि) होते हुए भी (एते) ऐसे (बहवः जनाः) बहुतसे मनुष्य हैं जो (मोहनीयेन कर्मणा) मोहनीय कर्मके कारण (मोहिता) मोहित होते हुए (सद्धर्म) यथार्थ धर्मको (नहि कुर्वते) आचरण नहीं करते हैं।

भावार्थ–जगतमें सब ही प्राणी दुःखोंसे डरते हैं और सदा सुख शांति चाहते हैं। तथापि बहुतसे मानव दुःखके कारण अधर्मको नहीं छोडते और सच्चे सुखके कारण सद्धर्मको नहीं पालते। जैसे कोई निरोग रहना चाहे परन्तु रोगके कारणोंको तो नहीं त्यागे और यथार्थ औषधिका सेवन नहीं करे तो वह अधिकतर रोगी होकर क्लेश ही भोगेगा, इसीतरह अज्ञानी मानव स्त्री, पुत्र, कुटुम्बके मोहके भीतर ऐसे अन्ध होजाते हैं कि कभी न तो सच्चे धर्मको समझनेका प्रयत्न करते हैं और यदि समझ भी लेते हैं तो उसका आचरण नहीं करते हैं। अतएव दुःखोंसे भयभीत होनेपर भी दुःख ही पाते हैं।

कथं न रमते चित्तं धर्मे चैकसुखप्रदे।
देवानां दुःखभीरूणां प्रायो मिथ्यादृशो यतः ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थ–(दुःखभीरूणां) दुःखोंसे भयभीत (देवानां) देवोंका (चित्तं) मन (एकसुखप्रदे धर्मे च) एक मात्र सुखके देनेवाले धर्ममें (कथं न रमेत) क्यों नहीं रमण करता है (यतः) क्योंकि (प्रायः मिथ्यादृशः) वे बहुधा मिथ्यादृष्टी होते हैं।

भावार्थ-मिथ्यादृष्टी मानवोंको साधारणतया अवधिज्ञान नहीं होता है। वे पूर्व व आगामी भवको नहीं जान सक्ते हैं परन्तु देवोंको तो नियमसे अवधिज्ञान होता है। वे पाप व पुण्यके फलको प्रत्यक्ष जान सक्ते हैं। तथापि मिथ्यात्वके तीव्र उदयसे वे आत्म-कल्याणमें अवधिज्ञानका उपयोग नहीं करते हैं, किंतु विषयोंकी तृष्णामें ऐसे संलग्न रहते हैं कि रातदिन मनोज्ञ विषयभोग करत्ते हैं तथापि तीव्र भोगाकांक्षासे संतापित रहते हैं। उनका मन परम सुखदाई जिनधर्ममें श्रद्धालु व प्रेमालु नहीं होता है। मिथ्यात्वके समान कोई वैरी नहीं है। यह बड़ी भारी मदिरा है, जिसको पीकर प्राणी संसारके मोहमें अचेत होजाता है, धर्मकी बात भी उसे अच्छी नहीं लगती है।

दुःखं न शक्यते सोढुं पूर्वकर्मार्जितं नरैः।
तस्मात् कुरुत सद्धर्मं येन तत्कर्म नश्यति ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थ-यदि (नरैः) मानव (पूर्वकर्मार्जितं) पूर्व कर्मोंके उदयसे प्राप्त (दुःखं) दुःखको (सोढुं न शक्यते) सहन नहीं कर सक्ते हैं (तस्मात्) तब तो (सद्धर्मं कुरुत) उन्हें सद्धर्मका आच-रण करना ही चाहिये (येन) जिस धर्मके सेवनसे (तत्कर्म) वह पूर्वका पापकर्म (नश्यति) नाश होजावे।

भावार्थ-संसारमें जितने दुःख भोगने पडते हैं उनका मूल निमित्त कारण अपना ही बांधा हुआ पापकर्मका उदय है, ऐसा निश्चय करके पापके फलसे प्राप्त दुःखोंको सहनेमें असमर्थ मानवोंको रत्नत्रयमय आत्मधर्मका सेवन अवश्य करना चाहिये। धर्म सेवनसे जो वीतराग

भाव होंगे उन भावोंके प्रभावसे सत्तामें बैठा हुआ पापकर्म पुण्यमें बदल जायगा या अत्यन्त क्षीण हो जायगा या क्षय हो जायगा तथा महान पुण्यका बन्ध भी होगा; क्योंकि धर्मानुराग अतिशयकारी पुण्यको बांधनेवाला है। अपनी भूलसे अयोग्य खानपान द्वारा उठा हुआ रोग यदि यथार्थ औषधिका सेवन किया जावे तो मिट सक्ता है, बहुत कम होसक्ता है। विवेकी मानवको उचित है कि भव भव दुःखदाई कर्मोंके संहारक इस पवित्र जिन धर्मका रुचिपूर्वक आराधन करें।

सुकृतं तु भवेद्यस्य तेन यान्ति परिक्षयम्।
दुःखोत्पादनभूतानि दुष्कर्माणि समन्ततः ॥ ५७॥

अन्वयार्थ-(यस्य तु) जिसके द्वारा (सुकृतं भवेत्) धर्म कार्य होगा (तेन) उसके धार्मिक भावसे (दुःखोत्पादनभूतानि) दुःखोंको पैदा करनेवाले (दुष्कर्माणि) कर्म (समन्ततः) सर्वथा (परिक्षयम् यान्ति) क्षय होजाते हैं।

भावार्थ-पूर्वबद्ध कर्म यदि निकाचित आदि वज्रके समान तीव्र न हों तो धार्मिक पवित्र वीतरागता सहित भावोंके प्रतापसे अपने समयके पहले ही विना फल दिये हुए क्षय हो जाते हैं। जिन कर्मोंके उदयसे असाता होनेवाली हो वे कर्म जड़मूलसे जीर्ण होकर गिर पड़ते हैं। आत्माके अनुभवमें अपूर्व शक्ति है। सम्यग्दर्शन सहित धर्मका आचरण करना हमारे वर्तमान जीवनको भी दुःखोंसे रहित व सातासे पूर्ण बनाता है व भविष्यका जीवन भी कष्ट रहित तय्यार होता है क्योंकि पुण्यका अधिक संचय होता है।

धर्माचरणसे सुख शांति भी अनुभवमें आती है, चित्तमें संतोष रहता है, विषयकषायोंकी मन्दता होती है।

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापारमन्यतः।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसंगमः॥ ४८॥

अन्वयार्थ-(अन्यतः) दूसरे कार्योंसे (व्यापारं) व्यवहार (मुक्त्वा) हटाकर (धर्म एव) धर्मको ही (सदा) सदा (कार्यः) करना योग्य है (यावत्, जबतक (निर्वाणसंगमः) निर्वाणका लाभ न हो तबतक (यः) वह धर्म (परमसौख्यं) परमानंदको (करोति) प्रदान करता रहता है।

भावार्थ-सदा काल इस वर्तमान जीवनको और भविष्यके जीवनको सुखदाई, सातापारी, संतोषी, क्लेशरहित बितानेका उपाय एक पवित्र जिन धर्मका आचरण है। जो मुनि या श्रावकके चारित्रको सम्यग्दर्शन सहित बिना किसी माया, मिथ्या या निदान शल्यके हर्षित मनसे विवेकपूर्वक पालता है वह इस समान तीव्र कर्मोदयसे यहां यदि आपत्तिमें भी आजावे तो भी वस्तुस्वरूपको विचार कर धैर्यवान व निराकुल रहता है तथा साधारण पाप कर्मोंको तो वह क्षय ही कर डालता है, जिससे बहुतसा दुःख टल जाता है। आत्मानन्दका लाभ तो वह सतत आत्ममननसे करता है। पुण्यका बन्ध अधिक होनेसे वह धर्मात्मा सुगतिमें ही प्राप्त करता है। वहां भी आत्मानुभवका संस्कार जागृत रहता है। सुखमई जीवन विताता है। निर्वाणकी ओर दृष्टि रखनेवाले महात्माको जबतक निर्वाणका संगम न हो तबतक सदा ही अतीन्द्रिय आनन्दके साथ २ साता व

संतोषका लाभ होता है। शारीरिक व मानसिक कष्टोंमें बहुत कमी होती जाती है। इसलिये विवेकीको धर्मका आचरण सदा करना योग्य है।

क्षणेऽपि समतिक्रान्ते सद्धर्म परिवर्जिते।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः ॥५९॥

अन्वयार्थ-(सद्धर्म परिवर्जिते) सत्य धर्मके आचरण विना (क्षणेअपि) एक क्षण भी (समतिक्रान्ते) वृथा चले जानेपर (मन्ये) मैं मानता हूं कि मैंने (आत्मानं) अपनेको (कषायेन्द्रियतस्करैः) कषाय और इन्द्रियोंके विषयरूपी चोरोंसे (मुषितं) ठगा लिया।

भावार्थ-ज्ञानीको धार्मिक क्रियाओंमें लगातार अपने मन, वचन, कायको ऐसा लगाए रखना चाहिये जिससे विषयोंके भाव व कषायोंके वेग अपना प्रभाव न डाल सकें। विषयकषाय आत्मीक धर्मके चुरानेवाले चोर हैं। जहां मनको धर्मभाव शून्य पाते हैं वहां ही मनमें प्रवेश कर जाते हैं। अतएव जो आरम्भ त्यागी श्रावक व साधु हैं उनको २४ घंटोंका समय विभाग बनाकर निरंतर सामायिक स्वाध्याय, धर्मचर्चा, धर्मोपदेश, धर्मभावना, ग्रन्थ लेखनादिमें बिताना चाहिये। जो आरंभ त्यागी नहीं हैं ऐसे गृहस्थ श्रावकोंको द्रव्य कमानेके लिये व न्यायपूर्वक इन्द्रिय भोग करने व शरीरको आराम देनेके लिये समयका विभाग करके शेष समयको सामायिक, देवपूजा, शास्त्र स्वाध्याय, तत्वचर्चा, परोपकार, दान, सेवा आदि शुभ कार्योंमें विना किसी मानकी व लोभकी भावनाके विताना चाहिये। एक क्षण भी धर्म भाव विना वृथा न खोना

चाहिये। लौकिक सर्व व्यवहारको धर्मकी रक्षा करते हुए नीति व सत्यके अनुकूल करना चाहिये। यही जीवनकी सफलता है।

धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव
आयुःकर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि ॥६०॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जबतक (तव आयु) तेरी उम्र (दृढं) मजबूत है (तावत) तबतक (धर्मकार्ये) धर्मकार्यमें (मतिः) बुद्धि रखनी चाहिये (आयुःकर्मणि) आयु कर्मके (संक्षीणे) नाश हो जानेपर (पश्चात्) पीछे (त्वं) तू (किं) क्या (करिष्यसि) करेगा?

भावार्थ–कर्मभूमिके मानवोंकी आयुके क्षयका कोई नियम नहीं है। बाहरी प्रतिकूल कारणके होनेपर अकालमें भी आयुकर्मकी उदीरणा होजाती है। सर्व स्थिति कटकर आयुकर्मकी वर्गणाएं गिर जाती हैं। इसलिये सदा ही धर्मकार्योंमें बुद्धि रखनी चाहिये, जिससे मरण कभी भी आवे तो भी पछतावा न करना पड़े, पुण्य-कर्मके संचयको लेकर प्राणीका मरण हो।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः।
सद्धर्मं चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थ–(यत्नेन) यत्नके साथ (धर्मं) धर्मका (आचर) आचरण कर (त्वं) तू (मृतोपमः) मृत प्राणीके समान (मा भव) मत रह (सद्धर्मं) सत्य धर्मको (चेतसां) अनुभव करनेवाले (पुंसां) मानवोंका (जीवितं) जीवन (सफलं) सफल (भवेत्) होता है।

भावार्थ–इस दुर्लभ मनुष्य जीवनकी सफलता धर्मके आच-

रणसे ही होती है। धर्मके प्रतापसे मानवोंका जीवन यहां भी सुख संतोषपूर्वक बीतता है व परलोकके लिये भी पुण्य कर्मका संचय होता है। जो मानव धर्मका साधन नहीं करते हैं उनका जीना न जीना समान है। वह मृतकके समान ही है, किन्तु उससे भी बुरा है। मृतक पाप संचय नहीं करता है। धर्म रहित अधर्मी मानव पापोंका संचय करके भावी जीवनको दुःखमय बना लेता है। इसलिये विवेकीको उचित है कि वह पुरुषार्थ करके धर्मका निरन्तर आचरण करे।

मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

अन्वयार्थ-(ये) जो (नराः) मानव (धर्मकारिणः) धर्मका आचरण करनेवाले हैं (ते तु मृताः) वे यदि मर जावें (मृता न एव) तो भी वे मरे नहीं हैं (वै) परन्तु (ये नराः) जो मानव (पापकारिणः) पाप करनेवाले हैं (ते) वे (जीवन्तः अपि) जीते हुए भी (मृताः) मरे हुए हैं।

भावार्थ—धर्मका साधन सदा ही सुखकारी है। जो धर्मात्मा आत्मज्ञानी वर्तमान जीवनको आत्मध्यान स्वाध्याय व्रत व तपाचरण द्वारा विताते हैं वे यहां भी सुखी रहते हैं व भविष्यमें पुण्य बांधकर साताकारी संयोग तथा संस्कारसे आत्मज्ञान पाते हैं। अतएव शरीर छूटनेपर भी उनकी कोई हानि नहीं है। वे जैसे यहां जीते हुए सुखी थे वैसे परलोकमें सुखी रहेंगे। परन्तु जो मिथ्याभावसे ग्रसित हैं, विषयोंकी तृष्णाके वश हैं और अन्ध हो हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकार्य करते हैं वे यहां भी आकुलित रहते हैं, चिन्तापूर्ण जीवन

बिताते हैं और परलोकमें पापके फलसे घोर दुर्गतिमें चले जाते हैं। मानवसे एकेन्द्रिय वृक्षादि होजाते हैं। ऐसे मानवोंका जीवन मरणके समान ही है, कुछ भी फलदाई नहीं है।

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३॥

अन्वयार्थ–(दुःखातङ्कविनाशनम्) दुःखरूपी रोगोंके नाश करनेवाले (धर्मामृतं) धर्मरूपी अमृतको (सदा पेयं) सदा पीना चाहिये (यस्मिन्) जिसके (पीते) पीनेसे (जीवानां) जीवोंको (सदा) हमेशा (परं सौख्यं) उत्तम सुख (जायते) होता है।

भावार्थ–संसार दुःखोंसे भरा है। जिस जीवको संसारके दुःखोंका रोग पीड़ित कर रहा है उसके लिये यही उचित है कि धर्मरूपी अमृतका पान करे। यही परम औषधि है जो सेवन करते हुए भी मीठी है व जिससे सर्व दुःखोंका अंत सदाके लिये होजाता है। जैसे अमृत तुर्त मिष्टता देता है, शरीरको निरोगी बनाता है वैसे यह आत्मानुभवरूपी अमृत उसीसमय आत्मानन्द देता है और उन कर्मोंका नाश करता है जो संसारमें दुःख फलको देनेवाले हैं। अतएव जन्म जरा मरणादि भयानक कष्टोंसे सदाके लिये छुट्टी पानेके लिये विवेकी जीवको पुरुषार्थ करके ध्यान स्वाध्यायकी भक्ति तपादि द्वारा मनको निश्चलकर अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका मनन करना चाहिये।

धर्म सुखकारी व तारक है।

स धर्मो यो दयायुक्तः सर्वप्राणिहितप्रदः।
स एवोत्तारणे शक्तो भवाम्भोधौ सुदुस्तरे ॥६४॥

भावार्थ-(यः दयायुक्तः) जो दया भावसे पूर्ण है (सः) वही (सर्वप्राणिहितप्रदः) सर्व प्राणी मात्रका हितकारी (धर्मः) धर्म है (सः एव) वही धर्म (सुदुस्तरे) अत्यन्त कठिनतासे तरने योग्य (भवाम्बोधौ) इस संसार समुद्रसे (उत्तारणे) पार उतारनेमें (शक्तः) समर्थ है।

भावार्थ-धर्म उसे कहते हैं जो जीवोंको संसार-समुद्रमें डूबनेसे बचावे तथा जो सदा उत्तम सुख देवे। ऐसा धर्म वही है जो यह सिखाता है कि सर्व प्राणीमात्र पर दयाभाव रक्खो-किसीको कष्ट न दो। अपने आत्माको व परकी आत्माको कभी न सताओ। ऐसा विश्वप्रेममय अहिंसाभाव ही धर्म है। जिसके परिणाममें सर्व जीव मैत्रीभाव जग उठता है, द्वेषभाव निकल जाता है, कोई छोटा है, कोई बड़ा है, यह रागद्वेष भी नहीं रहता है, सर्व विश्वकी आत्माएं स्वभावसे समान हैं, ऐसा साम्यभाव प्रगट होजाता है। यही साम्यभाव आनन्दप्रद है व संसारमें डुबानेवाले कर्मोंका नाशक है व यही भाव उस बातकी प्रेरणा करता है कि अपने आत्माको भी क्रोधादि हिंसकभावोंसे बचाओ तथा जगतके प्राणियोंके साथ व्यवहार करते हुए उनकी भी यथाशक्ति रक्षा करो। प्रमादभावसे बर्तन न करो जिससे प्राणी वृथा कष्ट पावें।

यदा कंठगतप्राणो जीवोऽसौ परिवर्तते।
नान्यः कश्चित्तदा त्राता मुक्त्वा धर्मं जिनोदितम् ॥६१॥

अन्वयार्थ-(यदा) जब (असौ) यह (कंठगतप्राणः) मरणके सन्मुख होता हुआ (जीवः) जीव (परिवर्तते) इस शरीरको छोड़कर दूसरेमें जाता है (तदा) तब (जिनोदितं धर्मं) जिनेन्द्र कथित धर्मको (मुक्त्वा) छोड़कर (कश्चित्) कोई (अन्यः) दूसरा (त्राता न) रक्षक नहीं है।

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानने सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकतारूप आत्मानुभवको धर्म कहा है व इसके साधक व्यवहारको भी धर्म कहा है। शुद्धोपयोग मुख्य धर्म है। जो नवीन बंधको रोकता है व पुराने कर्मोंको काटता है—आत्माको शुद्ध करता है। शुभोपयोग व्यवहार धर्म है, इससे पुण्य कर्मका बंध होता है। जब संसारी प्राणी मरने लगता है उससमय कोई भी मरणसे बचा नहीं सक्ता। स्त्री, पुत्र, मित्र, वैद्य, धन, सम्पदा, औषधि सब पड़े रह जाते हैं। कोई इस जीवके साथ भी नहीं जाता। ऐसी असमर्थ दशामें मरणके समय यदि धर्मको स्मरण किया जावे, धर्मध्यान किया जावे तो शुभलेश्यासे मरकर यह जीव देवगतिको ही प्राप्त हो। या देव न हो तो मनुष्यगतिको प्राप्त हो। पुण्यके उदयसे जिस गतिमें जावे वहां साताकारी संयोग प्राप्त हो व ऐसे साधन मिलें जिनसे फिर भी पवित्र जिनधर्ममें परम प्रीति होजावे। परम शरण—परम रक्षक सदा ही सुखप्रद यदि कोई मित्र है तो वह धर्म ही है। जो धर्मसे प्रीति करता है वह सदा दुःखोंसे बचता है। यदि तीव्र कर्मोंके उदयसे

भारी कष्ट आ भी जाता है तो धर्मके प्रतापसे इस कष्टको धैर्यके साथ सह सक्ता है। धर्मके समान कोई उपकारी नहीं है।

अल्पायुषा नरेणेह धर्मकर्मविजानता।
न ज्ञायते कदा मृत्युर्भविष्यति न संशयः ॥६६॥

अन्वयार्थ-(इह) इस जगतमें (धर्मकर्मविजानता) धर्म-कर्मको जाननेवाले (नरेण) मानव द्वारा (न ज्ञायते) नहीं जाना जासक्ता है कि (कदा) कब (मृत्युः) मरण (भविष्यति) होगा (संशयः न) इस बातमें संशय नहीं करना चाहिये।

भावार्थ-कर्मभूमिके मानवोंको अकाल मरण भी करना पड़ता है इससे मरणके समयका निश्चय करना दुर्लभ है। इसलिये ज्ञानीको यही समझना चाहिये कि मरण सदा ही खड़ा रहता है। मालूम नहीं कब गला दबा देवे। इसलिये धर्मसेवन फिर कर लेंगे, इस भावको मनसे दुर करके धर्मका सेवन हर समय करते रहना चाहिये। ध्यान, स्वाध्याय, संयम, दान, तप, भक्ति, सेवा परोपकारादिमें सदा वर्तना चाहिये, जिससे मरण जब चाहे भी होवे तो भी प्राणीको कभी कष्ट न हो, मर करके सुगतिको ही प्राप्त हो।

आयुर्यस्यापि दैवज्ञैः परिज्ञाते हितान्तके।
तस्यापि क्षीयते सद्यो निमित्तान्तरयोगतः ॥६७॥

अन्वयार्थ-(यस्य अपि आयुः) जिस किसीकी भी आयु (दैवज्ञैः) भाग्यके ज्ञाता निमित्त ज्ञानियोंके द्वारा (हितान्तके) हितसे अन्त होगी व अमुक समय पर छुटेगी (परिज्ञाते) ऐसा जान लिया जावे (तस्य अपि) उसकी भी आयु (निमित्तान्तरयोगतः)

किसी विपरीत निमित्तके संयोग होनेपर (सद्यः) शीघ्र (क्षीयते) क्षय होजाती है।

भावार्थ—निमित्तज्ञानी बता भी देवें कि अमुक समय तुम्हारा मरण होगा तौभी उनका बचन बहुत करके ठीक नहीं पड़ सक्ता है क्योंकि जगतमें असाध्य रोग, अग्नि प्रकोप, भूकम्प, जलप्रवाह आदि अनेक अकस्मात् एकाएक आजाते हैं जिनसे आयु कर्मके पुद्गल उदीरणा रूप होकर शीघ्र ही गिर पड़ते हैं। जैसे दीपकमें तेल इतना हो कि रात्रिभर जलेगा परन्तु किसी कारणसे दीपकका तेल गिर जावे तो वह दीपक तुर्त बुझ जाता है, वैसे ही आयुकी स्थिति निमित्तज्ञानी द्वारा जान भी ली जावे तौभी वह स्थिति एकदम खिर जाती है। जीवनकी ऐसी क्षणभंगुरता समझकर बुद्धिमानको सदा ही धर्ममें तत्पर रहना उचित है।

जिनैर्निगदितं धर्मं सर्वसौख्यमहानिधिम्।
ये न तं प्रतिपद्यन्ते तेषां जन्म निरर्थकम् ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थ—(जिनैः) श्री जिनेन्द्रोंने (सर्वसौख्यमहानिधिम्) सर्व सुखका महान भंडार स्वरूप (धर्मं) धर्मको (निगदितं) कहा है (ये) जो (तं) उसे (न प्रतिपद्यन्ते) नहीं धारण करते हैं (तेषां) उनका (जन्म निरर्थकं) जन्म वृथा है।

भावार्थ—श्री वीतराग सर्वज्ञ देवने जिस धर्मका उपदेश किया है वह सर्व प्रकारसे सुखका भंडार है। उस धर्मके पालनेसे कभी कष्ट नहीं होता है। वर्तमानमें भी सुख होता है, आत्मीक सुखका स्वाद आता है तथा भविष्यमें भी पुण्यके फलसे साताकारी संयो-

गोंको देनेका कारण है व परम्परा मोक्षका हेतु है। ऐसे वीतराग विज्ञानमय धर्मको जो नहीं समझते हैं, नहीं पालते हैं उनका मनुष्य जन्म निरर्थक बीत जाता है। इस नरजन्मकी शोभा सत्य आत्मानन्द प्रदायक व परम अहिंसामय धर्मके आराधनसे ही होती है। जो जिनकथित संयमको पालकर अपने आत्माको शुद्ध करते हैं उन्हींका जन्म सफल है। जो धर्ममें प्रेम न करते हुए रातदिन कुटुम्बके मोहमें अंध हो वर्तते हैं वे इस नर जन्मरूपी रत्नको कौड़ियोंके बदलेमें खोते हैं।

हितं कर्म परित्यज्य पापकर्मसु रज्यते।
तेन वै दह्यते चेतः शोचनीयो भविष्यति ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थ—(हितं कर्म) आत्माकी हितकारी क्रियाको (परित्यज्य) छोड़कर (पापकर्मसु) पापकर्मोंमें (रज्यते) जो रंजायमान होजाता है (तेन) उसने (वै) यथार्थमें (चेतः) अपने आपको (दह्यते) दग्ध कर दिया (शोचनीयः) शोक कारक यह बात (भविष्यति) भविष्यमें होगी।

भावार्थ—आत्माका हित आत्मज्ञान सहित धर्मके आचरणसे है। जो मूर्ख इस धर्मकी कुछ भी परवाह नहीं करके, रातदिन विषय व कषायोंके आधीन होकर उनकी सिद्धि होनेके लिये हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि पापोंमें आसक्त होकर विना ग्लानिके करता रहता है उसने अपने आत्माको मानो जला ही डाला, उसका घोर बिगाड़ किया क्योंकि पाप कर्मोंसे तीव्र कर्मोंका बन्ध हो जायगा। तब उन पापोंका उदय आयगा और दुःख सहना पड़ेगा जब इस प्राणीको

बहुत पछताना पड़ेगा और शोकित होना पड़ेगा। अतएव पापोंसे मन, वचन, कायको हटाकर धर्ममें प्रवृत्ति करनी योग्य है।

यदि नामाप्रियं दुःखं सुखं वा यदि वा प्रियम्।
ततः कुरुत सद्धर्मं जिनानां जितजन्मनां ॥७०॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (नाम) वास्तवमें (दुःखं) दुःख (अप्रियं) अच्छा नहीं लगता है (वा यदि सुखं वा प्रियम्) तथा यदि सुख प्यारा लगता है (ततः) तो (जितजन्मनां) संसारको जीतनेवाले (जिनानां) जिनेन्द्रोंके (सद्धर्मं) सच्चे धर्मको (कुरुत) पालो।

भावार्थ- दुःखोंका मूल निमित्त कारण पापकर्मोंका उदय है। तथा सांसारिक सुखोंका निमित्त मूल कारण पुण्य कर्मोंका उदय है। इसलिये पाप क्षय करनेकी व पुण्यको संचय करनेकी आवश्यक्ता है। यह तब ही होसक्ता है जब शुद्धोपयोगसे प्रेमयुक्त होकर जिनेंद्र कथित रत्नत्रय धर्मको यथार्थपने आचरण किया जावे। जो अविरत सम्यक्ती भी होते हैं वे भी दुर्गतिके दुःखोंसे बच जाते हैं तब जो देशव्रत तथा महाव्रत पालेंगे वे तो अवश्य दुःखोंसे बचेंगे और जबतक मोक्ष न होगा, साताकारी संयोगोंको प्राप्त करेंगे। अतएव धर्मके आचरणमें प्रमाद करना उचित नहीं है।

विशुद्धादेव संकल्पात्सम सद्भिरुपार्ज्यते।
स्वल्पेनैव प्रयासेन मित्रमेतदहो परम् ॥७१॥

अन्वयार्थ–(अहो एतत् परम् चित्रं) यह बड़े आश्चर्यकी बात कि (स्वल्पेन एव प्रयासेन) थोडे ही प्रयत्नसे (विशुद्धात् संकल्पात्

एव) शुद्ध भावोंके द्वारा (सद्भिः) संत पुरुषोंके द्वारा (समं) समभाव (उपार्ज्यते) प्राप्त करलिया जाता है ।

भावार्थ–परिणामोंकी विचित्र गति है । परिणामोंको पलटनेका निमित्त मिलानेसे परिणाम अशुभ व शुभसे पलटकर शुद्धोपयोगमें पहुंच जाते हैं। जहां शुद्धोपयोग है वहां समभाव है। समभाव परम धर्म है । यही परम कल्याणकारी है । सामायिक, अध्यात्म शास्त्र मनन, भक्ति आदि निमित्तोंके द्वारा वीतराग भाव जागृत होजाता है । अथवा व्यवहार नयको गौणकर जब शुद्ध निश्चयनयके द्वारा मनन किया जाता है तब सर्व जीव मात्रपर समभाव जागृत होजाता है । परिणामोंको शुद्धोपयोगमें ले जानेके लिये सम्यग्दर्शनकी जरूरत है । श्रद्धान चारित्रका प्रेरक होता है ।

धर्म एव सदा त्राता जीवानां दुःखसंकटात् ।
तस्मात्कुरुत भो यत्नं तत्रानन्तसुखप्रदे ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थ–(जीवानां) जीवोंको (दुःखसंकटात्) दुःख संकटोंसे (सदा त्राता) सदा रक्षा करनेवाला (धर्मः एव, धर्म ही है (तस्मात्) इसलिये (अनन्तसुखप्रदे तत्र) अनन्त सुखके देनेवाले उस धर्ममें (भो) हे भाई! (यत्नं कुरू) तू पुरुषार्थ कर।

भावार्थ–जो धर्मात्मा होते हैं उनके परिणामोंमें सदा संतोष रहता है । इसलिये दुःखोंके पड़नेपर वे आकुलित नहीं होते। उनको असाताके कारण मिलनेपर भी ज्ञानके बलसे धैर्य रहता है । इसके सिवाय धर्मके प्रतापसे पिछले बांधे हुए पाप कर्मोंको पुण्यमें पलटा

जासक्ता है। व पापका बल घटाया जासक्ता है। नवीन पुण्यका बंध होता है, जो इस जन्ममें भी उदय देना प्रारम्भ कर सक्ता है। इसलिये धर्मात्माके ऊपर आनेवाले संकट टल जाते हैं या कम होजाते हैं। भवभवके दुःखोंसे बचानेवाले व अनन्त सुखके देनेवाले इस आत्माके स्वाभाविक धर्मपर दृढ़ श्रद्धा लाकर उस धर्मका साधन प्रमाद त्यागकर बड़े परिश्रमसे करना चाहिये।

यत्त्वया न कृतो धर्मः सदा मोक्षसुखावहः।
प्रसन्नमनसा येन तेन दुःखी भवानिह ॥७२॥

अन्वयार्थ—(यत् येन) क्योंकि (त्वया) तूने (मोक्षसुखावहः) मोक्षके आनन्द देनेवाले (धर्मः) धर्मको (प्रसन्न मनसा) आनन्द मनके साथ (सदा न कृतः) सदा नहीं पाला है (तेन) इसी कारणसे (इह) इस लोकमें (भवान्) तू (दुःखी) दुःखोंको भोग रहा है।

भावार्थ—दुःखोंका कारण पापोंका उदय है। पापोंका बन्ध आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे या अशुभयोगसे होता है। जो धर्मकी क्रियाको भी दुःख भावसे करता है उसको परिणामके अनुकूल पापका ही बन्ध होता है। इसलिये धार्मिक क्रियाको बड़े आनन्द भावसे श्रद्धापूर्वक करनायोग्य है, जिससे अतिशयकारी पुण्यका बन्ध हो। धर्मका साधन किसी इच्छासे न करके केवल कर्मबन्धसे छूटनेके हेतु ही करना चाहिये। अतीन्द्रिय आनन्दके लिये ही करना चाहिये। तथा धर्म भी वही सत्य है जो अतीन्द्रिय आनंदका स्वाद प्रदान करे।

वह धर्म स्वात्मानुभव है, जहां निश्चय सम्यक्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्रकी एकता है। अथवा शुद्ध भावकी तरफ प्रेम बढ़ानेवाला शुभोपयोग भी धर्म है। जो सदा जिनधर्मको पालेगा वह कभी दुःखोंके सागरमें नहीं पड़ेगा।

यत्त्वया क्रियते कर्म विषयान्धेन दारुणम् ।
उदये तस्य सम्प्राप्ते कस्ते त्राता भविष्यति ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थ-(विषयान्धेन) विषयोंमें अन्ध होकर (त्वया) तूने (यत् दारुणं कर्म) जो भयानक तीव्र कर्म (क्रियते) बांधे हैं (तस्य उदये सम्प्राप्ते) उन कर्मोंके उदय आनेपर (कः) कौन (ते) तेरा (त्राता) रक्षक (भविष्यति) होगा।

भावार्थ-इस जीवको अपने बांधे हुए तीव्रकर्मोंका फल स्वयं आप ही भोगना पड़ता है। कर्मोंके उदयसे जो शारीरिक व मानसिक अवस्था विगड़ती है उसको कोई बटा नहीं सक्ता व उससमय जो वेदना होती है उसको भी स्वयं आप अकेलेको ही भोगना पड़ती है। तीव्रकर्मोंका बन्ध अन्याय, अभक्ष्य, मिथ्यात्वके कारण होजाता है। विषयोंमें अन्धा प्राणी धर्म व न्यायका तिरस्कार करके जो तीव्र रागद्वेष मोह करता है वही तीव्र पाप बन्ध करता है।

इन्द्रियभोगोंकी असारता।

भुक्त्वाप्यनन्तरं भोगान् देवलोके यथेप्सितान्।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्तः स किं प्राप्स्यति सम्प्रति ॥७५॥

अन्वयार्थ-(देवलोके) स्वर्ग लोकमें (यथेप्सितान्) इच्छानुसार (भोगान्) भोगोंको (अनन्तरं) निरन्तर (भुक्त्वापि) भोगकर भी (यः) जो कोई (हि निश्चयसे (तृप्तिं न सम्प्राप्तः) तृप्त नहीं हुआ (सः) वह (सम्प्रति) वर्तमान तुच्छ भोगोंसे (किं) किस तरह (प्राप्स्यति) तृप्ति प्राप्त कर सकेगा?

भावार्थ-इन्द्रियोंके भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं होसक्ती है। जितना भी भोगोंको भोगा जाता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे खाजको जितना भी खुजाया जावे खाज बढ़ती जाती है। देवलोकमें देवोंको विक्रिया करनेकी शक्ति है, वह नाना प्रकारके भोग देवियोंके साथ निरन्तर करते हैं, इच्छानुसार भोग करते हैं तौभी उनका मन नहीं भरता है, तो इस मनुष्यलोकके बहुत अल्प इन्द्रियोंके भोगोंसे तृप्त होनी असंभव ही है। एक तो यहां इच्छानुकूल भोग नहीं मिलते हैं, दूसरे यदि मिलते भी हैं तौ उनसे तृप्ति होनी कठिन है। इसलिये इन अतृप्तिकारी भोगोंमें फंसकर जो धर्मका अपूर्व साधन मनुष्य जन्ममें होसक्ता है उसको न करना मूर्खता है।

वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनम्।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदम् ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थ-(तद्भवनाशनम्) उसी एक जन्मके नाश करनेवाले (हालाहलं विषं) हालाहल विषको (भुक्तं) खा लेना (वरं) अच्छा है। (तु) परन्तु (अनंतभवदुःखदम्) अनंत जन्मोंमें दुःख देनेवाले (भोगविषं) भोगरूपी विषको (भुक्तं) खाना (न) ठीक नहीं है।

भावार्थ-जो मूर्ख इन्द्रियोंके विषयोंके सुखमें आसक्त होकर न्याय अन्याय धर्म अधर्मका विचार नहीं रखते हैं, निरर्गल होकर भोगोंमें लिप्त होजाते हैं और धर्मकार्यसे विमुख रहते हैं वे ऐसा तीव्र मिथ्यात्वादि कर्मोंका बंध करते हैं, जिस कर्मके उदयसे अनन्त जन्मोंमें एकेन्द्रियादिके कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसीलिये यहां कहा गया है कि कदाचित विष खाके मर जाना अच्छा है-उससे इसी जन्ममें शरीरका नाश होगा परन्तु विषयभोगोंमें लिप्त होना अच्छा नहीं, जो भविष्यमें महान दुःखदाई है।

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम् ।
तच्च कर्मविबन्धाय दुःखदानैकपण्डितम् ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ-(इन्द्रियप्रभवं) इन्द्रियोंके भोगोंसे होनेवाला (सौख्यं) सुख (सुखाभासं) सुखसा दीखता है (तत्) परन्तु वह (सुखं न) सच्चा सुख नहीं है (तत च) वह तो (कर्मविबन्धाय) कर्मोंको विशेष बन्ध करानेवाला है (दुःखदानैकपण्डितम्) तथा दुःखोंके देनेमें एक पंडित है अर्थात् महान दुःखदायक है।

भावार्थ-यहां असली सच्चे सुखकी तरफ आचार्य लक्ष्य कराते हैं कि वही सच्चा आनंद है, जो हरएक आत्माका स्वभाव है व

जिसे हरएक आत्मा अपने आत्माके अनुभवसे ही प्राप्त कर सक्ता है। इस सुखके भोगमें कभी कष्ट नहीं होता है—न वर्तमानमें होता है, न भविष्यमें होता है, क्योंकि इस सुखके भोगसे कर्मोंकी निर्जरा होजाती है। मुक्तात्माओंको यही सुख है। जबकि इंद्रियोंके भोगोंसे जो सुख प्रगट होता है वह वास्तवमें सुखसा दीखता है परन्तु सुख नहीं है। अपने रागभावकी पीड़ा न सह सकनेके कारण यह प्राणी इंद्रिय भोग करता है, उससे वर्तमानकी पीड़ा कुछ क्षणके लिये शमन होजाती है। कुछ ही देर पीछे तृष्णाके वेगसे पीड़ा और अधिक होजाती है। अतएव इन्द्रियोंका भोग चित्तके तापको बढ़ानेवाला ही है। तथा तीव्र रागसे अशुभ कर्मोंका बंध होजाता है जिससे भावी कालमें भी दुःख होगा। इसलिये ज्ञानी जीवको इन्द्रिय सुखको असार व दुःखरूप व संसारवर्द्धक जानकर इससे श्रद्धा हटा लेनी चाहिये, केवल अतीन्द्रिय आत्मीक सुखकी ही प्राप्तिकी कामना रखनी चाहिये।

अक्षाश्वान्निश्चलं धत्स्व विषयोत्पथगामिनः।
वैराग्यप्रग्रहाकृष्टान् सन्मार्गे विनियोजयेत् ॥७८॥

अन्वयार्थः—(विषयोत्पथगामिनः) विषयोंके कुमार्गमें लेजानेवाले (अक्षाश्वान्) इन्द्रिय रूपी घोड़ोंको (धत्स्व) पकड़ो (वैराग्यप्रग्रहाकृष्टान्) व वैराग्य रूपी लगामसे खींचकर उनको (सन्मार्गे) सच्चे मार्गमें (विनियोजयेत्) चलावो।

भावार्थ—जैसे घोड़ोंकी लगाम हाथमें न हो तो ये घोडे इच्छानुकूल कुमार्गमें घुड़सवारको लेजाकर पटक देते हैं, परन्तु यदि उनकी लगाम हाथमें हो तो घुड़सवार उन घोड़ोंको ठीक मार्गमें चला सकेगा,

उसी तरह विवेकी मानवका कर्तव्य है कि पांचों इंद्रियोंको अपने वशमें रखे। वैराग्य रूपी लगामके द्वारा उनको जिनेंद्र कथित धर्मके भीतर जोड़ देवे। वैराग्यभावके विना इंद्रियसुखकी चाह कभी नहीं मिट सक्ती है। वैराग्यके प्रभावसे ही धर्मकी उन्नति होती है।

अक्षाण्येव स्वकीयानि शत्रवो दुःखहेतवः।
विषयेषु प्रवृत्तानि कषायवशवर्तिनः॥ ७९ ॥

अन्वयार्थ—(कषायवशवर्तिनः) जो कषायोंके वशमें लीन हैं उसकी (अक्षाणि) इंद्रियें (एव) ही (विषयेषुप्रवृत्तानि) विषयोंमें रत होती हुईं (दुःखहेतवः) दुःखोंके कारण हैं (स्वकीय शत्रवः) वे अपने आत्माकी शत्रु हैं।

भावार्थ—आत्माके मूल शत्रु क्रोधादि चार कषायें हैं इनमें लोभ बहुत बलवान है। लोभके वशीभूत होकर लोभीकी स्पर्शनादि पांचों इंद्रियां अपने२ भोग्य विषयोंमें निरर्गल रीतिसे प्रवृत्ति करने लगती हैं, जिनसे यहां भी विषयवांछारूप आकुलता बढ़ती जाती है। इच्छित विषयोंके न मिलनेसे कष्ट होता है, वियोगका कष्ट होता है, तीव्र रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बन्ध होजाता है जिससे प्राणीको भव भवमें दुर्गतिमें जन्म पाकर बहुत असहनीय क्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिये ये इंद्रियें ही वास्तवमें इस आत्माके लिये शत्रुवत् व्यवहार करती हैं। जो उनको जीतकर उन्हें अपने आधीन रखता है वही सच्चा वीर है।

इन्द्रियाणां यदा छंदे वर्तते मोहसंगतः।
तदात्मैव तव शत्रुरात्मनो दुःखबन्धनः॥ ८० ॥

अन्वयार्थ-(यदा) जब यह प्राणी (मोहसंगान्नः) मोहकी संगतिसे उन्मत्त होकर (इन्द्रियाणां छंदे) इन्द्रियोंके आधीन (वर्तते) आचरण करता है (तदा) तब (आत्मा एव) यह आत्मा ही (आत्मनः) अपने लिये (दुःखनिबन्धनः) दुःखोंका कारण होता हुआ (तव शत्रुः) तेरा शत्रु होजाता है।

भावार्थ-यदि भले प्रकार विचार किया जावे तो यही सिद्ध होगा कि यह आत्मा आप ही अपना बन्धु है व आप ही अपना शत्रु है। जब यह मोहकी मदिरा पीकर आत्महितको भूल जाता है, तब यह पांचों इन्द्रियोंकी चाहके वश होकर मनमाने काम करता है जिनसे पापकर्मोंको बांध लेता है। पापोंके उदयसे जगतमें कष्ट पाता है। उससमय यह अपने लिये आप ही शत्रु बन जाता है। वास्तवमें इस जीवको कभी भी दुःख नहीं होसक्ता है, जबतक इसके पाप कर्मोंका उदय न हो। अपनी करणी, अपनी भरणी यह बात यथार्थ है।

इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि विषयेषु निरन्तरम्।
सज्ज्ञानभावनाशक्त्या वारयन्ति हिते रताः॥८१॥

अन्वयार्थ-(इन्द्रियाणि) ये इन्द्रियां (विषयेषु) अपने२ विषयोंमें (निरन्तरम्) निरन्तर (प्रवृत्तानि) प्रवृत्ति किया करती हैं, जो इनको (सज्ज्ञानभावनाशक्त्या) सम्यग्ज्ञानकी भावनाके बलसे (वारयन्ति) रोकते हैं वे (हिते) आत्महितमें (रताः) रत होजाते हैं।

भावार्थ-इन्द्रियोंका स्वभाव चंचल है। ये निरन्तर अपने२

इष्ट भोगोंकी कामनाएं किया करती हैं और पदार्थोंको प्राप्त कर उनको भोगा करती हैं। ज्ञानी जीव सम्यग्ज्ञानके द्वारा इनका अयोग्य स्वभाव विचार करते हैं कि उनके वश हो जाऊंगा तो अपना आत्म कल्याण नहीं होसकेगा। इनको रोककर अपने आधीन रखना ही श्रेयस्कर है। इनको वशमें रखनेसे इनसे वे ही काम लिये जासक्ते हैं जिनसे आपकी उन्नतिमें सहायता मिले। बुद्धिमान वे ही हैं जो इनको रोक करके आत्म कल्याणमें सदा लीन रहते हैं।

इन्द्रियेच्छारुजामज्ञः कुरुते यो ह्युपक्रमम्।
तमेव मन्यते सौख्यं किं तु कष्टमतः परम् ॥८२॥

अन्वयार्थ–(यः अज्ञः) जो अज्ञानी (इन्द्रियेच्छारुजाम्) इन्द्रियोंके इच्छारूपी रोगोंका (उपक्रमम्) उपाय (हि) निश्चयसे (कुरुते) करता रहता है और (तम् एव) उसीको (सौख्यं) सुख (मन्यते) मानता है (अतः परं) इससे बढ़कर (कष्टं) दुःखकी बात (किं तु) और क्या होसकता है ?

भावार्थ–वास्तवमें इन्द्रियोंकी इच्छाएं रोग हैं उन रोगोंकी शांतिका उपाय आत्मानन्दका भोग तथा वैराग्य है। तथापि अज्ञानसे या पूर्व संस्कारसे उन इच्छाओंके मिटानेके लिये यह प्राणी इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेमें प्रवृत्त होता है और उसीमें ही सुख मान लेता है, यही दुःखकी मूल है। जैसे रोग हितकारी नहीं वैसे रोगको बढ़ानेवाली दवा भी हितकारी नहीं। विषयोंके भोगसे इच्छाका रोग बढ़ता जाता है। ज्ञानी गृहस्थ भी आवश्यक्तानुसार आकुलित होकर न्यायपूर्वक विषयभोग करता है। परन्तु उन इन्द्रि-

योंके भोगोंको व उनके सुखको त्यागनेयोग्य व आगामी दुःखोंका कारण जानता है। इससे जितना२ वैराग्य बढ़ता जाता है उतनी २ विषयभोगकी इच्छा भी घटती जाती है। सच्चा सुख आत्मीक स्वभाव है। उस श्रद्धा सहित होनेसे ज्ञानीके न्यायपूर्वक किये हुए भोग अहितकारी नहीं होते हैं, तीव्र बन्ध नहीं करते हैं। जबकि अज्ञानीको विषय भोगोंकी ही श्रद्धा होती है। विषयभोगोंसे ही सुख मानता है। इसलिये विषयभोगोंकी रातदिन चाह रखता है और उनको सेवता है। उनके पीछे ऐसा उन्मत्त होजाता है कि धर्माचारको नहीं करता है। इससे तीव्र पापके फलसे दुर्गतिमें घोर कष्ट पाता है।

आत्माभिलाषरोगाणां यः शमः क्रियते बुधैः।
तदेव परमं तत्त्वमित्यूचुर्ब्रह्मवेदिनः॥ ८२॥

अन्वयार्थ–(बुधैः) बुद्धिमान लोग (आत्माभिलाषरोगाणां) अपनी इच्छारूपी रोगोंकी (यः शमः) जो शांति (क्रियते) करते हैं (तत एव) यह ही (परमं तत्त्वं) परम तत्त्व है (इति) यह बात (ब्रह्मवेदिनः) ब्रह्मज्ञानी संतोंने (ऊचुः) कही है।

भावार्थ–आत्मज्ञानी साधुओंने भले प्रकार अनुभव करके यह बात जानी है कि इन्द्रियोंकी इच्छाएं इन्द्रियोंके भोगोंसे नहीं मिटती हैं किन्तु आत्मध्यान द्वारा स्वात्मानन्दके भोगसे मिटती हैं। ज्ञान वैराग्य सहित अध्यात्म मनन ही विषय रोगोंकी शांतिकी दवा है। इसलिये वे ही मानव विवेकी हैं जो अतृप्तिकारी इन्द्रियोंके भोगोंमें नहीं फंसते हैं। किन्तु उनसे वैराग्यवान होकर परम शांतिके समुद्र निज आत्मीक स्वभावमें निमग्न [illegible] उसी

चर्चामें लगे रहते हैं। धर्मका परम सार एक आत्मानुभव है। यही अनादि विषयकी इच्छारूपी रोगोंकी दवा है।

इंद्रियाणां शमे लाभं रागद्वेषजयेन च।
आत्मानं योजयेत् सम्यक् संसृतिच्छेदकारणम् ॥८४॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियाणां शमे) इन्द्रियोंकी इच्छाकी शान्ति होनेपर (च रागद्वेषजयेन) तथा रागद्वेषको जीत लेनेसे (लाभं) आत्माका कल्याण है इसलिये (आत्मानं) अपनेको (सम्यक्) भलेप्रकार (योजयेत्) इन्द्रियोंके विजयमें व रागद्वेष त्यागमें जोड़ना चाहिये।

भावार्थ—भवसागर अथाह है व दुःखोंका घर है। इसमें गोते खानेका कारण तीव्र पापका बन्ध है। इन्द्रियोंको जो अपने वशमें नहीं रख सक्ता है तथा जो रागद्वेषकी तीव्रतामें फंसा रहता है, विषयभोगोंमें जो उपकारक है उनमें बड़ा राग करता है व जो विरोधी हैं उनपर द्वेष करता है, वह तीव्र कर्म बांधकर संसारसे कभी पार नहीं जासक्ता है। इसलिये जो इस असार संसारका अन्त करना चाहें उनका परम कर्तव्य है कि वे इन्द्रियोंकी इच्छाओंको शांत करें, सादा जीवन बितावें, आवश्यक प्राप्त वस्तुमें संतोष रक्खें, यथाशक्ति मन, वचन, कायको संवरमें रखकर महाव्रत या अणुव्रत पालन करें और अंतरङ्गमें आत्मीक रसका स्वाद लें तो नवीन कर्मका बंध रुकेगा या बहुत अल्प होगा और पुरातन संचित कर्मकी प्रचुर निर्जरा होगी। वीतरागका अभ्यास उसी क्षण सुखका अनुभव कराएगा व संसारको छेद करता चला जायगा।

इन्द्रियाणि वशे यस्य यस्य दुष्टं न मानसम्।
आत्मा धर्मरतो यस्य सकलं तस्य जीवितम् ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थ-(यस्य वशे) जिसके वशमें (इन्द्रियाणि) पांचों इन्द्रियां हैं (यस्य मानसं) जिसका मन (दुष्टं न) दुष्ट या दोषी नहीं है (यस्य आत्मा) जिसका आत्मा (धर्मरतः) धर्ममें रत है (तस्य जीवितम्) उसीका जीवन (सफलं) सफल है।

भावार्थ-जीवनकी सफलता उसे ही कहते हैं जहां सुख शांतिका भोग वर्तमानमें मिले व आगामी भी सुख शांतिके भोग देनेवाले निमित्त मिलें ऐसा धर्माचरण किया जावे। पांच इन्द्रिय और मन ये छः ही ऐसे जाल हैं जिनमें फंसकर यह प्राणी नाना प्रकार सांसारिक विचारोंमें लगा रहता है। जो इन छहोंको स्वाधीन रखता है, उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोक देता है तथा जो अपने जीवनके समयको धर्मके साधनमें लगाता है, मुनि या श्रावकका चारित्र बड़े उत्साहसे सम्यग्दर्शन सहित पालता है उस ही महात्माका नरजन्म पाना उपयोगी है।

परनिन्दासु ये मूका निजश्लाघ्यपराङ्मुखाः।
ईदृशैर्ये गुणैर्युक्तास्ते पूज्याः सर्वविष्टपे ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थ-(ये) जो (परनिन्दासु) दूसरोंकी निन्दा करनेमें (मूकाः) मौन रखते हैं (निजश्लाघ्यपराङ्मुखाः) तथा अपनी प्रशंसासे उदासीन हैं, कभी अपनी बडाई नहीं करते हैं (ये) जो (ईदृशैः गुणैः) इस प्रकारके गुणोंसे (युक्ताः) युक्त हैं (ते) वे (सर्वविष्टपे) सर्व लोकमें (पूज्याः) पूज्यनीय हैं।

भावार्थ-ये ही ज्ञानी हैं जो दूसरोंके दोषोंके ग्रहणमें व उनके वर्णनमें उदासीन हैं तथा अपने भीतर गुण होते हुए भी अपना गुणगान नहीं करते हैं। वे यह समझते हैं कि जबतक मेरेमें

अज्ञानका व रागद्वेषका किंचित् भी अंश मौजूद है तबतक हम अपनी प्रशंसा क्यों करें? अपवित्र दशामें जरा भी शोभा नहीं। इसलिये जबतक हम पूर्ण पवित्र न हों, हम प्रशंसनीय नहीं हैं। जो प्राणी दोष कर लेते हैं वे आत्मबलकी कमीसे कषायोंके उदयके आधीन होजाते हैं, वे कषायोंको रोकते नहीं, इसलिये वे दयाके पात्र हैं, निन्दाके पात्र नहीं। उनकी निन्दा तो तब की जावे जब आप इन दोषोंसे खाली हो। अनादिकालीन संसारमें यह प्राणी वारवार अनेक दोषोंको कर चुका है, अतएव मेरा निन्दा करना अज्ञान है। इसलिये संत पुरुष परनिन्दा आत्मप्रशंसा न करके जिस उपायसे अपने गुण बढ़ें दोष छूटें व दूसरोंके गुण बढ़ें, दोष छूटें उस उपायको अपना कर्तव्य जानकर करते हैं, वृथा बकवाद नहीं करते हैं; ऐसे सज्जनोंका जगतभर सम्मान करता है।

प्राणान्तिकेऽपि सम्प्राप्ते वर्जनीयानि साधुना।
परलोकविरुद्धानि येनात्मा सुखमश्नुते ॥ ८७॥

अन्वयार्थ—(प्राणान्तिके अपि सम्प्राप्ते) प्राणोंके अंत होनेपर भी (साधुना) साधुको (परलोकविरुद्धानि) परलोकसे विरुद्ध कार्योंको (वर्जनीयानि) त्याग देना चाहिये है (येन) इसी उपायसे (आत्मा) यह आत्मा (सुखं) सुखको (अश्नुते) भोग सक्ता है।

भावार्थ—मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, अविरतिभाव, प्रमाद, कषाय, मन, वचन, कायका अन्यथा वर्तन आदि कार्योंके करनेसे ऐसा पापका बंध होता है जिनके उदयसे यह प्राणी एकेंद्रियादि अशुभ पर्यायोंमें पहुंचकर घोर कष्ट सहता है। इसलिये वही साधु

है जो इन सब कार्योंको मन. वचन. कायसे छोड़कर संयम व तप सहित आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन या अनुभव करता है। यही वह उपाय है जिससे वर्तमानमें भी सुख होगा व भविष्यमें भी सुखकी प्राप्ति रहेगी।

स मानयति भूतानि यः सदा विनयान्वितः।
स प्रियः सर्वलोकेऽस्मिन्नापमानं समश्नुते ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (सदा विनयान्वितः) विनयवान है (सः) वह (भूतानि) प्राणीमात्रका (मानयति) सम्मान करता है। (सः) वह (अस्मिन् सर्वलोके) इस सर्व लोकमें (प्रियः प्रिय माना जाता है (अपमानं) वह अपमान (न समश्नुते) नहीं भोगता है।

भावार्थ–धर्मात्मा वही है जो यथार्थ वस्तुओंका स्वरूप समझे, जिसको कर्मके अच्छे बुरे फलका भले प्रकार ज्ञान हो, ऐसे ज्ञानी जीवको विनयवान होना ही चाहिये। वह किसीको घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता है। अज्ञानी, दुःखी, दलिद्री, रोगीको देखकर उसपर करुणा व मैत्रीभाव लाता है। दूसरोंको दुःखी देखकर उनका दुःख कैसे दूर करूं यह भाव रखता है। वह बड़ोंकी भक्ति करके विनय करता है। छोटोंकी उनके साथ प्रिय वचन कहकर व उनके कष्ट निवारण करके विनय करता है। वह किसीका अपमान नहीं करता है। ऐसा विवेकी विनयवान जीव जगतके सर्व प्राणीमात्रका यथोचित सम्मान करता हुआ जगतका प्यारा बना रहता है। सब जगतके प्राणी उसको प्यार करते हैं। वह कभी किसीके द्वारा निरादरको नहीं पाता है। जो विनयवान है वही यथार्थ मानव है। किसीका तिरस्कार करना मनुष्यता नहीं है। पापी दुष्ट भी विनय सहित व्य-

वहारसे लज्जित होकर अपना सुधार कर लेता है। मैत्रीयुक्त मन, मैत्रीयुक्त वचन सर्व हितकारी होते हैं।

किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं कदाचिदपि धीमता।
विषयास्तु न भोक्तव्या यद्यपि स्युः सुपेशलाः ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थ-(कदाचिदपि) कदाचित् (किम्पाकस्य फलं) किम्पाक फलको जो खानेमें स्वादिष्ट हो व विषवत् फलको (भक्ष्यं) खालेना ठीक है (तु) परन्तु (धीमता) बुद्धिमानको (यद्यपि) यद्यपि (विषयाः) इन्द्रियोंके भोगयोग्य पदार्थ (सुपेशलाः स्युः) बड़े ही सुंदर हों तौभी (न भोक्तव्या) नहीं भोगने चाहिये।

भावार्थ-इन्द्रायण आदिके ऐसे फल होते हैं जो देखनेमें अच्छे व खानेमें मीठे होते हैं परन्तु उनका विपाक रोगकारक व प्राणघातक होता है। उन फलोंको भी नहीं खाना चाहिये परन्तु कदाचित् ऐसा फल खा भी लिया जावे तो वर्तमान शरीरका ही नाश होगा। इन्द्रियोंके विषयभोग तो इनसे भी बहुत बुरे हैं। सुंदर विषयभोगोंकी सामग्री प्राप्त होती हो तौभी बुद्धिमानको उनसे बचना चाहिये क्योंकि वे भोग ऐसा तृष्णाका विष चढ़ा देंगे जिससे जन्म जन्म दुःख प्राप्त होगा, तृष्णा बढ़ेगी व तीव्र पापबन्ध होगा, आत्मशांतिका नाश होगा। इसलिये ज्ञानीको विषयोंके भोगोंसे बचना चाहिये। इन्द्रियोंको वश रखके धर्मसाधनके उपकारी कार्योंमें उनको लगाए रखना चाहिये। ये भोग किंपाक फलसे भी अत्यंत अनिष्टकारक हैं-भोगते अच्छे लगते हैं किन्तु आत्माके लिये भविष्यमें दुःखदायक हैं।

कामवासनाकी असारता।

स्त्रीसंपर्कसमं सौख्यं वर्णयन्त्यबुधा जनाः।
विचार्यमाणमेतद्धि दुःखानां बीजमुत्तमम् ॥ ९० ॥

अन्वयार्थ-(अबुधाः जनाः) अविवेकी मानव (स्त्रीसंपर्कसमं) स्त्रीके संसर्गको (सौख्यं) सुख (वर्णयन्ति) कहते हैं। (विचार्यमाणं) विचार किया जावे तो (एतत् हि) यह ही (दुःखानां) दुःखोंका (उत्तमं बीजं) बड़ा भारी बीज है।

भावार्थ-जिनको दीर्घ विचार नहीं है, जो क्षणिक सुखमें लुब्ध हैं वे यही कहते हैं कि स्त्री भोगके समान सुख नहीं है। वे अन्ध होकर स्त्री भोग किया करते हैं। यदि अच्छी तरहसे विचार किया जावे तो यह उनकी मान्यता ठीक नहीं है। स्त्रीभोगके सुखको सुख मानना ठीक किम्पाक फलका खाना है। कामविकारसे पीड़ित होकर यह प्राणी जब दुःखित होता है तब उस पीड़ाके शांत करनेको स्त्री संभोग करता है। वह स्त्री उसके वीर्यरूपी रत्नको हरकर उसे तुर्त निर्बल कर देती है तथा पुनः पुनः भोग करनेकी दाहको उत्पन्न कर देती है। उस दाहसे पीड़ित होकर यह पुनः स्त्रीभोग करके अतिशय निर्बल होजाता है। निर्बलको अनेक रोग सताते हैं, वह रोगी होजाता है, तब खाया पीया भी नहीं जाता। यह मानव जीवन बिगड़ जाता है, धर्मका साधन न कर सकनेके कारण व स्त्री भोगकी तृष्णा बनी रहनेके कारण वह कुगतिमें जाकर दुःख उठाता है। अन्यायपूर्वक स्त्री भोग तो महान अनर्थकारी है ही। शरीरशक्ति, धन, आत्मबल, धर्म, यश सर्व नाश करनेवाला है, परन्तु जो

न्यायपूर्वक अपनी स्त्रीका ही भोग अति कामी हो करते हैं वे भी निर्बल रोगी हो दुःख पाते हैं व धर्मरहित जीवन बिताते हैं। अतएव स्त्रीसंभोग सुख नहीं है। काम बाधाका क्षणिक झूठा उपाय है। इसका सर्वथा त्याग ही श्रेष्ठ सुखका कारण है। जो कदाचित् आत्मबलकी कमीसे ऐसा न होसके तो गृहस्थ स्वस्त्री संतोष रखके केवल संतानलाभके हेतु वहुत अल्प स्त्रीसंभोग करे। जिससे धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ न बिगड़े, शरीर स्वास्थ्ययुक्त रहे, वीरतापूर्ण जीवन वीते, उसतरह स्वस्त्री भोगमें संतोषसहित प्रवर्ते। वीर्यरक्षा व ब्रह्मचर्यके समान कोई सुखदाई वस्तु नहीं है।

स्मराग्निना प्रदग्धानि शरीराणि शरीरिणाम्।
शमाम्भसा हि सिक्तानि निर्वृत्ति नैव भेजिरे ॥ ९१ ॥

अन्वयार्थ–(शरीरिणाम्) शरीरधारी प्राणियोंके (शरीराणि) शरीर (स्मराग्निना) कामकी अग्निसे (प्रदग्धानि) जला करते हैं (शमाम्भसा) शांत जलसे (हि) भी (सिक्तानि) सींचे जावें (निवृत्तिं न एव भेजिरे) तोभी शान्त नहीं होते हैं, उनको आराम नहीं मिल सक्ता है।

भावार्थ–कामका उद्वेग जब चढ़ता है, जब किसी स्त्रीके स्नेहके कारण कामकी अग्नि मनमें जल उठती है तब मनके साथ शरीर भी जलने लग जाता है, दीर्घ उष्ण श्वास निकलने लगते हैं। किसी भी तरह चैन नहीं पड़ती है। उस कामी मानवको कितने भी शीतल जलसे स्नान कराया जावे तौभी कामकी जलन नहीं मिटती है। कामकी दाहके मिटानेका उपाय कामभोग भी नहीं है। मात्र

ज्ञानवैराग्य सहित आत्मानंदका भोग है। जब अतीन्द्रिय आनंदका गहरा स्वाद आता है तब बड़ी कठिनतासे कामभाव शमन होता है।

अग्निना तु प्रदग्धानां शमोस्तीति यतोऽत्र वै।
स्मरवह्निप्रदग्धानां शमो नास्ति भवेष्वपि ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थ-(यतः) क्योंकि (अत्र वै) इस लोकमें (अग्निना प्रदग्धानां) आगसे जलनेवालोंकी (तु शमः अस्ति इति) तो शान्ति हो ही जाती है परन्तु (स्मरवह्निप्रदग्धानां) जो कामकी आगसे जलते रहते हैं उनकी (शमः) शांति (भवेषु अपि) भवभवमें भी (नास्ति) नहीं होती है।

भावार्थ—आगको शांत करनेका उपाय जल है। यदि कोई मानव आगसे जल रहा हो उसको यदि जलसे न्हला दिया जावे तो वह तुर्त शीतल हो ही जायगा, इसमें संदेह नहीं है। परन्तु जिसके मनमें कामकी ज्वाला धधकती है वह अनंत जन्मोंमें भी शांत नहीं होती है, चाहे कामभोग किया जावे या न किया जावे, क्योंकि कामभोग करनेसे और भी कामकी तृष्णा बढ़ जाती है। इसलिये इस भयंकर आगको शांत करनेका उपाय सम्यग्ज्ञान और वैराग्यका रुचिपूर्वक सेवन है, और कोई उपाय नहीं है।

मदनोऽस्ति महाव्याधिर्दुश्चिकित्स्यः सदा बुधैः।
संसारवर्धनेऽत्यर्थं दुःखोत्पादनतत्परः ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थ—(मदनः) कामवेदना (महाव्याधिः) बड़ा भारी रोग है (सदा) सदा ही (दुश्चिकित्स्यः) इसका इलाज कठिन है (संसारवर्धने) संसारको बढ़ानेमें (अत्यर्थं) अतिशयरूप है

(दुखोत्पादनतत्पर:) तथा यह रोग दु:खोंको उत्पन्न करता ही रहता है (बुधै:) बुद्धिमानोंने ऐसा कहा है ।

भावार्थ--और सब रोगोंका इलाज है, उत्तम पथ्य औषधिके सेवनसे मिट जाते हैं, लेकिन काम रोग ऐसा भयंकर नाइलाज है कि उसके दूर करनेके लिये कोई बाहरी पदार्थका सेवन कार्यकारी नहीं होता है। स्त्री सेवनसे भी नहीं मिटता है। बढ़ता ही जाता है तथा इसकी तृष्णाके कारण अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका बन्ध होता है जिससे संसार वास बढ़ता जाता है । कामकी तृष्णा अन्याय करनेके भाव भी जागृत कर देती है जैसे रावणका मन रामकी स्त्री सीतापर आसक्त होगया । तब उस प्राणीको नरक तिर्यंचगतिका बन्ध पड़ता है। दुर्गतिमें जाकर उसे महान कष्ट प्राप्त होता है । पूर्व संस्कारवश कामकी ज्वाला न मिटनेसे परम्परा दु:खोंकी प्राप्ति चली ही जाती है ।

यावदस्य हि कामाग्निः हृदये प्रज्वलत्यलम् ।
आश्रवन्ति हि कर्माणि तावदस्य निरन्तरम् ॥९४॥

अन्वयार्थ--(यावत्) जबतक (अस्य) इस जीवके (हृदये) मनमें (कामाग्निः) कामकी ज्वाला (हि) वास्तवमें (अलं प्रज्वलति) तीव्रतासे जलती रहती है (तावत्) तबतक (अस्य) इस जीवके (निरन्तरम्) सदा ही (कर्माणि) कर्म (आश्रवन्ति हि) आते ही रहते हैं ।

भावार्थ--कामकी ज्वाला बड़ी ही दु:खदायक है। इसके कारण परिणाम ऐसे रागी व कभी द्वेषी व कभी मोही होजाते हैं जिनसे निर-

न्तर कर्मोंका आस्रव हुआ ही करता है। विषयोंकी तीव्र अभिलाषा, विषयलम्पटता अशुभोपयोग है। इससे पापकर्मोंका, असातावेदनीयादिका व मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी कषायादिका तीव्रबन्ध होता है, जिससे भवभवमें कष्ट होता है।

कामाहिदृढदष्टस्य तीव्रा भवति वेदना।
यया सुमोहितो जन्तुः संसारे परिवर्तते ॥ ९५ ॥

अन्वयार्थ–(कामाहिदृढदष्टस्य) जिस किसीको कामरूपी नाग डस लेता है उसको (तीव्रवेदना) घोर पीड़ा (भवति) होती है (यया) जिस तीव्र वेदनासे (सुमोहितः) मूर्छित होता हुआ (जन्तुः) यह जीव (संसारे) इस संसारमें (परिवर्तते) एक गतिसे दूसरी गतिमें चक्कर लगाया करता है।

भावार्थ–काले नागके डसनेसे जो विष चढ़ता है उससे तो वर्तमान शरीरका ही क्षय होता है परन्तु जिसको कामरूपी सर्प डस लेता है उसको तीव्र रागरूपी ऐसा विष चढ़ता है कि वह भवभवमें शान्त नहीं होता है। विषयोंकी लम्पटताके कारण यह जीव तीव्रकर्म बांध लेता है। और उनके विपाकसे जन्मजन्ममें भ्रमणकर अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक कष्ट भोगता है। कभी लब्ध्यपर्याप्तक होकर एक श्वासमें अठारहवार जन्मता व मरता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव पांच परिवर्तनोंमें अनंतवार जन्म करानेवाला तीव्र विषयानुराग है।

दुःखानामाकरो यस्तु संसारस्य च वर्धनम्।
स एव मदनो नाम नराणां स्मृतिसूदनः ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थ–(यः तु) जो कोई (दुःखानां) दुःखोंकी (आकरः) खान है (च संसारस्य वर्धनम्) तथा जिससे संसारकी बढ़ती होती है (स एव) वह ही (मदनः नाम) कामदेव नामका शत्रु है (नराणां) वह मानवोंकी (स्मृतिसूदनः) स्मरणशक्तिको नाश करनेवाला है।

भावार्थ–कामविकारको मदन कहते हैं। यह अनंत दुःखोंकी खान है। इसके कारणसे इस लोकमें भी जीव दुःखी होता है व परलोकमें भी दुःखी होता है। कामवासनाके कारण धर्मकी वासना अपना दृढ़ प्रभाव नहीं जमाती है। इससे संसारमें भ्रमण बढ़ता ही जाता है तथा कामकी ज्वालासे शरीरका रुधिर सूखता है, वीर्य शक्ति कम होती है, इसीसे स्मरण शक्तिपर भी बुरा असर पड़ता है। यह काम भाव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सर्वका नाश करनेवाला मदन नामका महान शत्रु है।

संकल्पाच्च समुद्भूतः कामसर्पोतिदारुणः।
रागद्वेषद्विजिह्वोऽसौ वशीकर्तुं न शक्यते ॥९७॥

अन्वयार्थ–(कामसर्पः) कामरूपी सांप (अतिदारुणः) अत्यन्त भयानक है (संकल्पात् च समुद्भूतः) अंतरङ्ग विचारसे ही उत्पन्न होता है (असौ रागद्वेषद्विजिह्वः) इसके राग द्वेषरूपी दो जबाने हैं (वशीकर्तुं न शक्यते) इसका वश करना बहुत कठिन है।

भावार्थ–काम भाव अंतरङ्गमें जब कामका वेग तीव्र वेदके उदयसे होता है तब ही उत्पन्न होता है। यह भयानक इसलिये है कि धर्म, अर्थ पुरुषार्थको नाश कर देता है, बुद्धिको विकारी बना देता है।

तब इष्ट स्त्री आदि पदार्थोंमें राग बढ़ जाता है। कामभावकी तृप्तिमें जो पदार्थ बाधक होते हैं उनमें द्वेष बढ़ जाता है। तब जिसका आत्म-बल निर्बल है वह मार्गसे गिर जाता है। इसको आधीन रखनेके लिये बहुत पुरुषार्थकी जरूरत है।

दुष्टा येयमनङ्गेच्छा सेयं संसारवर्धिनी।
दुःखस्योत्पादने शक्ता शक्ता वित्तस्य नाशने ॥ ९८ ॥

अन्वयार्थ–(या इयं) जो यह (अनंगेच्छा) काम भावकी इच्छा है (सा दुष्टा) सो दुष्ट है (इयं) यह (संसारवर्धिनी) संसार बढ़ानेवाली है (दुःखस्य) दुःखोंके (उत्पादने) पैदा करनेमें (शक्ता) लीन है (वित्तस्य) पैसेके (नाशने) नाश करनेमें (शक्ता) समर्थ है।

भावार्थ–कामभावकी तीव्रता दुष्टके समान व्यवहार करती है। दुष्टका जितना आदर किया जाता है वह उतना ही अपना बुरा करता है। इसी तरह कामभावके अनुसार जितना अधिक वर्तन किया जाता है कामकी पीड़ा बढ़ती जाती है। इसके आधीन जो मानव होजाता है उसको इष्ट वियोगके व शरीरके रोगिष्ट होनेके दुःख ही दुःख होते हैं। तीव्र कषायकी वृद्धिसे संसारमें भ्रमण करानेवाले कर्मोंका बंध इतना बढ़ता है कि संसारका पार करना उसके लिये कठिन होजाता है।

अहो ते धिषणाहीना ये स्मरस्य वशं गताः
कृत्वा कल्मषमात्मानं पातयन्ति भवार्णवे ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थ–(अहो) बड़े खेदकी बात है (ये) जो कोई (स्मरस्य) कामके (वशं गताः) वश हो जाते हैं (ते) वे (धिषणाहीनाः)

बुद्धिहीन हैं (आत्मानं) अपनेको (कल्मषं) पापी (कृत्वा, बनाकर (भवार्णवे) संसारसागरमें (पातयन्ति) गिरा देते हैं।

भावार्थ—मानव जन्मकी सफलता अपने आत्माकी उन्नतिसे है। जिससे यह आत्मा अशुद्धतासे शुद्धताको प्राप्त करले तब फिर अनेक जन्मोंमें जन्म मरण न करना पड़े। यह कार्य तब ही होसक्ता है जब काम भावको जीतकर बाहरी ब्रह्मचर्य पालता हुआ अंतरङ्ग ब्रह्मचर्यको पाले, ब्रह्मस्वरूप आत्मामें लीन हो आत्मानन्दका भोग करे। जो अज्ञानी काम भोगके आधीन होकर निरन्तर विषयवांछासे व कषाय भावसे आकुलित रहते हैं वे पापकर्मोंका संचय कर लेते हैं और अपनेको निगोदमें व नर्कमें गिरा देते हैं। फिर आत्मोन्नतिके लिये मनुष्य जन्मका उत्तम अवसर पाना उनके लिये दुर्लभ होजाता है अतएव जो विषयलम्पटी हैं वे मूर्ख हैं।

स्मरेणातीवरौद्रेण नरकावतपातिना।
अहो खलीकृतो लोको धर्मामृतपराङ्मुखः ॥१००॥

अन्वयार्थ—(अहो) बड़े खेदकी बात है (नरकावर्तपातिना) नरकरूपी गड्ढेमें पटकनेवाले (अतीवरौद्रेण) अत्यन्त भयानक (स्मरेण) कामने (लोकः) मानवोंको (खलीकृतः) दुष्ट बना दिया है तथा (धर्मामृतपराङ्मुखः) धर्मरूपी अमृतके पानसे छुटा दिया है।

भावार्थ—यह काम बड़ा ही भयानक वैरी है। जो इसके आधीन होजाते हैं वे अन्यायमें प्रवर्तकर नरकवासमें गिर जाते हैं। उनके परिणाम धर्मकी ओरसे बिलकुल दूर होजाते हैं। उनको इस मानव जन्ममें कभी धर्मामृतके पीनेका अवसर नहीं मिलता है।

उनकी चेष्टा एक दुष्ट मानवके समान होजाती है जो रातदिन अपने स्वार्थके आधीन हो परका बुरा करनेमें ग्लानि नहीं मानते हैं।

स्मरेण स्मरणादेव वैरं दैवनियोगतः।
हृदये निहितं शल्यं प्राणिनां तापकारकम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ-(दैवनियोगतः) कर्मोंके तीव्र उदयसे (स्मरेण) कामदेवके द्वारा (स्मरणात् एव) उस कामके स्मरण मात्रसे ही (प्राणिनां हृदये) प्राणियोंके हृदयमें (तापकारकम्) संतापको उत्पन्न करनेवाला (वैरं) व अत्यन्त बुरा करनेवाली (शल्यं) कामकी शल्य (निहितं) पटक दी गई है।

भावार्थ-कामभावकी तीव्रता जब वेद नोकषायके तीव्र उदयसे परिणामोंमें बैठ जाती है तब जब कभी उसका विशेष स्मरण आता है तब कामका कांटासा चुभता है, जिससे घोर दुःख होता है। इष्ट विषयकी ओर परिणाम बढ़े आकुलित हो जाते हैं। घबडाकर वह महान कष्ट पाता है। यहां कामकी शल्य तीव्र पाप बांधकर आत्माका अत्यन्त बुरा करनेवाली है।

तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं जिनमार्गरताः सदा।
येन सत्खंडितां याति स्मरशल्यं सुदुर्धरम् ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ-(तस्मात्) इसलिये (जिनमार्गरताः) जैन धर्ममें प्रीति करते हुए (सदा) निरन्तर (सद्वृत्तं) सम्यक्चारित्रको (कुरुत) पालन करो (येन) जिस सम्यक्चारित्रके द्वारा (सुदुर्धरम्) अत्यन्त कठिन (स्मरशल्यं) कामरूपी शल्यके (सत्खंडितां याति) सैकड़ों टुकड़े होजाते हैं।

भावार्थ-जब कामभावका कांटा दिनरात चुभा करता है तब इस कांटेको निकालकर फेंक देना ही उचित है। यद्यपि इसका निकलना बड़ा कठिन है तथापि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रको पाला जावे, व्यवहार व्रताचरण करते हुए निज आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव किया जावे तो ब्रह्मभावका प्रभाव परिणामोंमें जमता जायगा और कामकी शल्य खंडित होती जायगी। इसी अभ्यासके बलसे काम शल्य बिल्कुल निकल जायगी। जिन धर्मका श्रद्धापूर्वक आराधन करना जरूरी है।

चित्तसंदूषणः कामस्तथा सद्गतिनाशनः।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थ (कामः) यह कामभाव (चित्तसंदूषणः) चित्तको मलीन करनेवाला है (तथा सद्गतिनाशनः) तथा शुभगतिको बिगाड़नेवाला है (च सद्वृत्तध्वसनः) और सम्यक्चारित्रको भ्रष्ट करनेवाला है (असौ कामः) यह काम (अनर्थपरम्परा) अनर्थोंकी परम्पराको चलानेवाला है।

भावार्थ—आत्माका महान वैरी काम भाव है। मनको ऐसा क्षोभित तथा मलीन कर देता है कि जिससे विवेकभाव नाश होजाता है। परिणाम इतने गन्दे होजाते हैं कि जिससे शुभ गतिका बन्ध न होकर दुर्गतिका बन्ध होजाता है। जो कोई यथार्थ चारित्रको पालता है और वह कामभाव जागृत करनेवाले निमित्तोंको नहीं बचाता है उसका भाव प्रायः कामका उदय बिगाड़ देता है जिससे उसका चारित्र नाश हो जाता है। कामके वश होना ही अनर्थ है। फिर एक अनर्थसे दूसरे अनर्थ पैदा होजाते हैं।

दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत् ।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थ—(कामः) यह काम (दोषाणां) दोषोंकी (आकरः) खान है (च गुणानां विनाशकृत्) और गुणोंको नाश करनेवाला है (पापस्य) पापका (निज बन्धुः) अपना बन्धु है (च एव) और यही (परापदां) बड़ी२ आपत्तियोंका (संगमः) संगम मिलानेवाला है।

भावार्थ—आत्माके ज्ञान, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, संतोष, आदि गुण हैं, वे कामभावके कारण नाश हो जाते हैं तथा इनके विरोधी अनेक दोष आकर जमा होजाते हैं। जहां कामभाव है वहां पापोंका सदा बंध होता है। तथा कामी जीवका आचरण ऐसा आपत्तिजनक होजाता है जिससे उसके ऊपर बड़े२ संकट आकर घेर लेते हैं; राज्यदंड, पंचदंडको पाता है, जगतमें अपयशका पात्र होजाता है। काम आत्माका महान शत्रु है।

पिशाचेनैव कामेन छिद्रितं सकलं जगत् ।
बंभ्रमेति परायत्तं भवाब्धौ स निरन्तरम् ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थ—(पिशाचेन इव) भूत पिशाचके समान (कामेन) कामभावने (सकलं जगत्) सर्व जगतके प्राणियोंको (छिद्रितं) दोषी बना दिया है (सः) वह जीव (परायत्तं) कामके आधीन होकर (भवाब्धौ) संसाररूपी सागरमें (निरंतरं) सदा (बंभ्रमेति) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ—बड़े बड़े वीर राजा महाराजा योद्धा कामके वशीभूत होकर दोषोंके पात्र बन जाते हैं, दीनहीन चेष्ट ... लेते हैं,

घोर अन्याय करने लग जाते हैं। परस्त्रीगामी होजाते हैं। काम भावके आधीन जो जो जीव होते हैं वे यहां भी बड़ी आकुलतासे जीवन विताते हैं, आत्मीक सुखशांतिको कभी पाते नहीं हैं व पाप-कर्मका ऐसा तीव्र बन्ध कर लेते हैं जिससे उनको दीर्घ कालतक नरक तिर्यंचगतिमें अनेक जन्म धार धारके संसारमें भ्रमण करना पड़ता है। यह कामभाव संसारके भ्रमणका प्रबल कारण है।

वैराग्यभावनामंत्रैस्तन्निवार्य महाबलं।
स्वच्छन्दवृत्तयो धीराः सिद्धिसौख्यं प्रपेदिरे॥ १०६॥

अन्वयार्थ-(स्वच्छन्दवृत्तयः) स्वतंत्र आचरण रखनेवाले कामके वश न होनेवाले (धीराः) धैर्यवान मानव (वैराग्यभावनामंत्रैः) वैराग्यकी भावनारूपी मंत्रोंसे (तत् महाबलं) उस कामके महाबलको (निवार्य) दूर करके (सिद्धिसौख्यं) मोक्षके आनन्दको (प्रपेदिरे) पाचुके हैं।

भावार्थ-जो विषय कषायोंके आधीन नहीं हैं किन्तु आत्माका हित सदा विचारनेवाले हैं, उन्हींको स्वतंत्र मानव कहते हैं। वे बड़े धैर्यवान होते हैं, वे परिणामोंमें उत्पन्न होनेवाले कामके विकारोंको जीतनेके लिये वैराग्यकी भावना भाते हैं। वे यही विचारते हैं कि कामके सेवनसे कभी भी कामका रोग शांत नहीं होसक्ता है। किंतु और अधिक कामका दाह बढ़ जाता है। इसलिये इस अतृप्तिकारी क्षणिक सुखकी आशा छोड़कर आत्माके स्वाभाविक आनन्दका लाभ लेना ही हितकर है। कामके वेगको रोकनेमें हित है। जबकि इसके आधीन होनेसे अपना सरासर बिगाड़ है। मानव जन्मकी सफलता जिस आत्मोन्नतिसे होती है उसमें तीव्र बाधा खड़ी होती है।

मानव जन्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि इसमें संयमका आराधन न किया तो फिर ऐसे मानव जन्मका फिर आना कठिन होगा। कामका सेवन भूतकालमें अनेक जन्मोंमें किया है। राजपदमें व देवपदमें बहुत सुन्दर२ स्त्रियोंका सेवन किया है। जब उन दिव्यभोगोंसे तृप्ति नहीं हुई तो इस पंचमकालके तुच्छ स्त्रीसंभोगसे कैसे तृप्ति होगी? यह कामका विषयसुख झूठा है। वमन किये हुए अन्नके समान है। ज्ञानीको इसे बिलकुल त्यागकर परमब्रह्मके ध्यानमें मग्न होकर परम सुख लेना चाहिये। प्राचीनकालमें चक्रवर्ती तीर्थंकरादिने भी स्त्रीभोग त्यागकर वैराग्य ही धारण किया। और जो स्त्रीभोगमें लिप्त रहे वे मरकर नरकादि दुर्गतिमें पहुंचे हैं। इसतरह वारवार अनित्य अशरणादि बारह भावनाओंके भानेसे कामका विष उसीतरह उतर जाता है जैसे सर्पका विष मंत्रोंके पढ़नेसे उतर जाता है। जो इस तरह इस विषको उतार देते हैं और आत्मानुभवके द्वारा आत्मानंदका भोग करते हैं वे एक दिन सिद्ध भगवान होकर अनन्त काल तकके लिये परमानन्दमें निमग्न रहते हैं और सदाके लिये भव भ्रमणसे छूट जाते हैं।

कामी त्यजति सद्वृत्तं गुरोर्वाणीं ह्रियं तथा।
गुणानां समुदायं च चेतः स्वास्थ्यं तथैव च ॥१०७॥
तस्मात्कामः सदा हेयो मोक्षसौख्यं जिघृक्षुभिः।
संसारं च परित्यक्तुं वाञ्छद्भिर्यतिसत्तमैः ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थ—(कामी) कामी मानव (सद्वृत्तं) सम्यक्चारित्रको (गुरोः वाणीं) गुरुकी आज्ञारूपी वाणीको (तथा ह्रियं) तथा लज्जाको

(गुणानां समुदायं च और गुणोंके समूहको (तथैव च चेतः स्वास्थ्यं) तैसे ही मनकी निराकुलताको (त्यजति) छोड़ देता है (तस्मात्) इसलिये (कामः) यह काम (मोक्षसौख्यं जिघृक्षुभिः) मुक्तिके आनन्दके ग्रहणके इच्छुक (च संसारं परित्यक्तुं वाञ्छद्भिः) और संसारके त्यागके वांछक (यतिसत्तमैः) साधुओंके द्वारा (सदा हेयः) सदा ही छोड़ने लायक है।

भावार्थ—यह कामभाव ब्रह्मचर्यका घातक है, साथ ही और भी अहिंसा सत्यादि व्रतोंका खंडक है। जो कामके वश होजाते हैं वे गुरुसे ग्रहण की हुई ब्रह्मचर्य व्रतकी प्रतिज्ञाको त्याग बैठते हैं। कामी मानवके भीतरसे लज्जा चली जाती है। वह कामके वेगसे घबड़ाकर स्त्रियोंकी संगति एकान्तमें करनेसे व उनके साथ कामचेष्टा हास्यादि करनेमें लज्जा नहीं करता है। कामके कलंकसे जो क्षमा, संतोष, शान्ति, ब्रह्मज्ञान, आत्मध्यान, वैराग्य आदि गुण प्राप्त किये थे वे सब धीरे २ खिसकते जाते हैं। चित्तमें समता व निराकुलता कभी नहीं रहती। इष्ट स्त्रीके साथ संसर्ग करनेकी आकुलतामें मन फंसा रहता है। जिन साधु संतोंका यह उद्देश्य है कि वे अपने आत्माको इस भयानक संसार-समुद्रसे पार करके ध्रुव व शांतिमय मुक्तिके आनन्दमें विराजमान करदें उनको पूर्ण उद्योग करके कामभावका सदा ही त्याग रखना चाहिये, कामभावके जागृत करनेवाले निमित्तोंसे बचना चाहिये। ब्रह्मचर्यकी पांच भावनाऐं भानी चाहिये—(१) स्त्रियोंमें राग बढ़ानेवाली कथा न करूं, (२) उनके मनोहर अंगोंको न देखूं, (३) पूर्वके भोग याद न करूं,

(४) कामोद्दीपक रस व भोजन न खाऊं (५) अपने शरीरका श्रृंगार न रक्खूं। जो साधु पांच भावनाओंको भाते हैं व स्त्री नपुंसक आदि विकारी पात्रोंका जहां आना जाना न हो ऐसे एकांतमें शयनासन करते हैं वे महात्मा कामभावको जीत लेते हैं।

कामार्थौ वैरिणौ नित्यं विशुद्धध्यानरोधनौ।
संत्यज्यतां महाक्रूरौ सुखं संजायते नृणाम्॥ १०९॥

अन्वयार्थ-(कामार्थौ) काम और धन (नित्यं विशुद्धध्यान-रोधनौ) हमेशा निर्मल ध्यानके रोकनेवाले हैं (महाक्रूरौ) महान दुष्ट (वैरिणौ) आत्माके वैरी हैं (संत्यज्यतां) उन दोनोंको छोड़ देना चाहिये तब (नृणाम्) मनुष्योंको (सुखं संजायते) सुख पैदा होता है।

भावार्थ-विषयभोगोंकी लालसा तथा धनकी ममता, धन कमानेकी संग्रहकी, संरक्षणकी चिन्ता ये दोनों ही निर्मल शुद्ध आत्मध्यानके होनेमें विघ्नकारक हैं। जब कोई ध्यान करने बैठेगा धन सम्बन्धी व कामभोग सम्बन्धी विचार आकर घेर लेंगे। जब संयोग न रहेगा तब उनका स्मरण भी न होगा। अतएव जो मानव आत्मानन्दके वांछक हैं उनका कर्तव्य है कि धन और काम-भोगोंका संयोग छोड़कर त्यागी संयमी हो जावें और निराकुल होकर आत्मानुभव करें, तब उनको परम निराकुल आत्मसुखका लाभ होगा।

कामदाहो वरं सोढुं न तु शीलस्य खंडनम्।
शीलखंडनशीलानां नरके पतनं ध्रुवं॥ ११०॥

अन्वयार्थ-(कामदाहः सोढुं वरं) कामकी चाहकी दाहको

सह लेना अच्छा है (तु) परन्तु (शीलस्य खंडनं च) शील या ब्रह्मचर्यका खंडन अच्छा नहीं है (शीलखंडनशीलानां) जो मानव शीलखंडनकी आदत डाल लेते हैं (ध्रुवं) निश्चयसे (नरके पतनं) उनका नरकमें पतन होता है।

भावार्थ–कामकी चाह मनमें पैदा होती हैं, उस चाहकी जलनको सह लेना ठीक है। सहनेमें अपना बिगाड़ नहीं होगा। जैसे कोई गाली दे, सुननेवाला उसको सह ले तब परस्पर कलह व युद्ध होनेका निमित्त नहीं आयगा। परन्तु यदि नहीं सहे और बदलेमें गाली दे तो परस्पर कलह बढ़ते २ मारपीट हो जायगी। इसी तरह कामकी दाहको सह लेनेसे सहनशीलताकी आदत पड़ेगी, धीरे २ कामकी दाह शमन हो जायगी, परन्तु जो कामकी चाहके आधीन होकर शील खंडन करके स्त्रियोंमें रति करने लगेगा तो उसकी चाहकी दाह अधिक बढ़ जायगी व वारवार स्त्री संभोग करेगा, स्वस्त्री परस्त्री वेश्याका विवेक जाता रहेगा। परिणाम तीव्र राग भावसे ऐसे लिप्त हो जायंगे कि वह मानव नरकायु बांधकर नरकमें पतन कर घोर दुःख उठाएगा।

कामदाहः सदा नैव स्वल्पकालेन शाम्यति।
सेवनाच्च महापापं नरकावर्तपातनम् ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ–(कामदाहः कामकी जलन (स्वल्पकालेन) थोड़े कालमें (शाम्यति) मिट जाती है। (सदा नैव) सदा नहीं रहती (सेवनात् च) परन्तु काम सेवनसे (महापापं) महान् पापका बन्ध होता है। (नरकावर्तपातनम्) जो पाप नरकके गड्ढेमें गिरा देता है।

भावार्थ–तीव्रवेद नोकषायके उदयसे कामकी जलन पैदा होती है। वह एक अंतर्मूहूर्तसे अधिक एकसी नहीं रहती है। थोड़े कालमें अन्य कार्योंकी तरफ उपयोग लग जानेसे व वेदका उदय मन्द हो जानेसे कामकी दाह मिट जाती है। इसलिये कामकी दाहको मिटने देना ही अच्छा है। यह ठीक नहीं है कि कामकी दाह शान्त करनेको स्त्रीसंभोग किया जावे। इससे तो कामकी दाह अधिक बढ़ेगी तथा तीव्र रागभावसे नर्क गमन योग्य पाप बंध जायगा, जहां बहुत कष्ट होगा।

सुतीव्रेणापि कामेन स्वल्पकालं तु वेदना।
खंडनेन तु शीलस्य भवकोटिषु वेदना ॥११२॥

अन्वयार्थ–(सुतीव्रेण कामेन अपि) अतितीव्र कामकी दाहसे भी (स्वल्पकालं तु) थोड़े ही कालतक (वेदना) पीड़ा रहती है (तु) परन्तु (शीलस्य खंडनेन) ब्रह्मचर्यको खंडन कर देनेसे (भवकोटिषु) करोड़ों जन्मोंमें (वेदना) कष्ट सहने पड़ते हैं।

भावार्थ–बुद्धिमान वही है जो अधिक कष्टको बचाकर थोड़ा कष्ट सह ले। काम सेवन विष फल खानेके समान है। एक फल देखनेमें सुन्दर है, खानेमें मीठा है, परन्तु वह घातक है। उसके खानेकी चाह किसीकी पैदा हो तो उसे उचित है कि उस चाहके कष्टको सहले परन्तु विष फल कदापि नहीं खावे। जो कुबुद्धि जिह्वाकी लोलुपतासे विना विचारे विष फल खावेगा वह प्राण गंमावेगा। तथा चाहना कुछ देर पीछे मिट भी जाती है। इसी तरह कामसेवनका भाव भी कुछ देर पीछे मिट जाता है। जो इस दाहके

शमनके लिये परस्त्री सेवनादि पाप कर्मोंमें प्रवर्तेगा और आत्मधर्मसे विमुख हो जायगा उसको मिथ्यात्व कर्मके उदयसे करोड़ों जन्मोंमें जन्म मरण रोग शोकादिके कष्ट भोगने पड़ेंगे। इसलिये ज्ञानीका कर्तव्य है कि कामकी वेदनाको ज्ञानक द्वारा शमन करे। उसके पीछे पड़कर चारित्र भ्रष्ट न हो।

कामशमनका उपाय।

नियमं प्रशमं याति कामदाहः सुदारुणः।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मंत्रपदैर्यथा॥ ११३॥

अन्वयार्थः–(यथा मंत्रपदैः विषं) जसे मंत्रोंके पदोंके प्रभावसे सर्पका विष उतर जाता है वैसे ही (सुदारुणः कामदाहः) अति-तीव्र कामकी दाह भी (ज्ञानोपयोगसामर्थ्यात्) अपने आत्मज्ञानके बलसे (नियमं प्रशमं याति) नियमसे ठंढी होजाती है।

भावार्थ–कामकी दाह कितनी भी तीव्र हो उसको मिटानेका नियमसे यही उपाय है कि तत्वज्ञानका व आत्मज्ञानका अभ्यास किया जावे। संसारकी क्षणभंगुरताको व संसारके दुःखोंको विचार किया जावे तथा मोक्षको, मोक्षके सुखोंको तथा कामकी असारताको वारवार विचार किया जावे। ज्ञानमें बड़ी शक्ति है। ज्ञान क्षण-मात्रमें भावोंको पलट देता है। शास्त्रका अभ्यास भी कामकी दाहको मिटा देता है।

असेवनमनंगस्य क्षमाय परमं स्मृतम्।
सेवनाच्च परा वृद्धिः शमस्तु न कदाचन॥११४॥

अन्वयार्थ—(अनंगस्य) कामका (असेवनं) नहीं सेवना (शमाय) कामभावकी शांतिका (परमं) बड़ा उपाय (स्मृतं) कहा गया है (च) क्योंकि (सेवनात्) काम सेवनसे (परा वृद्धिः) कामभावकी लगातार बढ़ती होती जाती है (तु कदाचन) परन्तु कभी भी (शमः न) उसकी शांति नहीं होती है।

भावार्थ जैसे कहींपर आग जलती हो उसपर यदि तेल, घी, लकड़ी आदिका ईंधन न डाला जावे तो वह आग थोड़ी देरमें बुझ जायगी परन्तु जो कोई आगके बुझानेके लिये आगमें लकड़ी आदि डालेगा तो वह आग और अधिक प्रज्वलित हो जायगी। इसीतरह कर्मोदयसे उठी हुई कामकी दाह अपने आप थोड़ी देरमें बुझ जायगी, परन्तु कामके सेवन करनेसे तो लगातार बढ़ती जावेगी, कभी भी शांत नहीं होगी। अतएव कामकी वेदनाको ज्ञान वैराग्यकी भावनासे मिटाना योग्य है, परन्तु स्त्री सेवनादि उपाय करना और अधिक काम रोगको बढ़ा लेना है।

उपवासोऽवमोदर्यं रसानां त्यजनं तथा।
अस्नानसेवनं चैव ताम्बूलस्य च वर्जनम् ॥११५॥
असेवेच्छानिरोधस्तु निरनुस्मरणं तथा।
एते हि निर्जरोपाया मदनस्य महारिपोः ॥११६॥

अन्वयार्थ—(उपवासः) खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकार आहार छोड़कर उपवास करना (अवमोदर्यं) भरपेट न खाकर कम खाना (रसानां त्यजनं) दूध, दही, घी, मीठा, तेल, निमक इन छः रसोंका या कुछोंका त्यागना तथा स्वादकी कामना रहित भोजन

करना (तथा अस्नानसेवनम्) तथा स्नान विलेपनादि नहीं करना (चैव ताम्बूलस्य च वर्जनम्) तैसे ही पानोंका नहीं खाना (असेवा) काम भावपूर्वक स्त्रियोंकी सेवा नहीं करना (इच्छानिरोधः, अपनी उठी हुई इच्छाको रोकना (तथा तु निरनुस्मरणं) तथा कामसेवनका वारवार स्मरण नहीं करना (एते हि) ये ही (मदनस्य महारिपोः) कामरूपी महान शत्रुके (निर्जरोपाया) निर्जराके उपाय हैं।

भावार्थ–कामभावके जागृत होनेके लिये बाहरी और अन्तरङ्ग दोनों कारण हैं। बाहरी कारण ही अधिकतर अन्तरङ्ग कारणको जाग्रत कर देता है। काम वेद कषायकी उदीरणासे होता है। यह कामकी तीव्रता तब ही होती है जब बाहरी निमित्त मिलाया जावे व शरीरको ऐसा भोजनपान कराया जावे जिससे कामकी इन्द्रिय प्रबल होजावे। अतएव इस कामभावको आत्माका बड़ा भारी शत्रु समझकर इसके जीतनेके लिये नीचे लिखे उपाय करें।

१–उपवास–महीनेमें चार उपवास करना, धर्मध्यानमें समय लगाना। उपवाससे इन्द्रियमद मिट जाता है। शरीरका विकार शांत होजाता है। और भी समय२ पर उपवास करते रहना। कामदेव स्वयं शांत होजायगा। २–पेटभर कभी नहीं खाना। ऊनोदर करना। अल्प भोजनसे भी इन्द्रिय वशमें रहती है। ३–रसोंको छोड़ते रहना व जबानके चटोरपनको जीतना, मिष्ट व कामोद्दीपक भोजन व रस न खाना। ४–तैल उबटन चंदन, सुगंधादि लगाकर व मल-मलकर स्नान न करना। स्नानसे कामका राग चढ़ता है। ५–ताम्बूल कामभावको जगानेवाला है इससे पान नहीं

खाना । ६-स्त्री संभोगका निमित्त बचाकर स्त्री सेवन नहीं करना। ७-इच्छाको ज्ञानके मननसे रोकना । ८-पिछले भोगोंको याद नहीं करना इत्यादि और भी बाहरी साधनोंको रखना। जैसे एकांतमें स्त्रीके साथ नहीं बैठना उठना, हास्य वार्तालाप नहीं करना, सादगीसे अपना शरीरका रखना, समयका विभाग करके किसी न किसी उपयोगी काममें लगे रहना। इत्यादि उपायोंसे कामका वेग जीता लिया जाता है ।

काममिच्छानिरोधेन क्रोधं च क्षमया भृशं ।
जयेन्मानं मृदुत्वेन मोहं संज्ञानसेवया ॥११७॥

अन्वयार्थ-(इच्छानिरोधेन) इच्छाको रोक करके (कामं) काम भावको (च क्षमया क्रोधं) तथा क्षमा भावसे क्रोधको (मृदुत्वेन मानं) मार्दव भावसे मानको (संज्ञानसेवया मोहं) सम्यग्ज्ञानकी सेवासे मोहको (भृशं जयेत) अच्छी तरह जीते ।

भावार्थ-जब कामसेवनका भाव पैदा हो तो उस समय इच्छाको इसी तरह रोकदे जैसे खिड़कीको बंद करके पवनके वेगको रोकते हैं। उस समय विचार करे कि काम आत्माका शत्रु है। इसके वश हो जाऊंगा तो सर्वस्व गंमाऊंगा । जब कभी क्रोध आजावे व आनेका निमित्त बने तब सहनशीलतापूर्वक क्षमाभावसे उसे जीते। प्रायः जब कोई अपना बुरा करता है तब ही क्रोध आता है। अपना बुरा या तो वह करेगा जिसको हमने पहले कुछ हानि पहुं-चाई है अथवा कोई मूर्ख करेगा । दोनों ही क्षमाके पात्र हैं। पहली दशामें हम अपने कृत्यका फल भोग रहे हैं, दूसरी दशामें अज्ञानी

पर ज्ञानियोंको क्षमा ही कर्तव्य है। धन, अधिकार, विद्या आदिका मान भाव आवे तब इन सबको क्षणभंगुर जानकर मान न करे, विनय गुणको पाले, सबके साथ कोमलतासे वर्ते। सांसारिक पदार्थोंके भीतर मोह सतावे तब शास्त्रके द्वारा तत्वोंका विचार करे। संसारके अनित्य स्वभावको व मुक्तिके नित्य स्वभावको चिन्तवन करे। इन उपायोंसे कामभाव, क्रोधभाव, मानभाव व मोहको उद्यम करके अच्छीतरह जीतना चाहिये। जो जीते वही वीर हैं।

तस्मिन्नुपशमे प्राप्ते युक्तं सद्वृत्तधारणं।
तृष्णां सुदूरतस्त्यक्त्वा विषान्नमिव भोजनं॥११८॥

अन्वयार्थ-(तस्मिन् उपशमे प्राप्ते) कामभावके शान्त हो जानेपर (सद्वृत्तधारणं युक्तं) सम्यक्चारित्रको धारण करना योग्य है तब (विषान्नम् भोजनं इव) विषसे मिले अन्नका भोजन जैसे छोड़ दिया जाता है वैसे (तृष्णां सुदूरतः त्यक्त्वा) तृष्णाको दूरसे ही छोड़े।

भावार्थ-जबतक कामसेवनकी इच्छा शांत न हो तबतक गृहस्थमें स्वस्त्री सहित रहकर एकदेश ब्रह्मचर्य पालना चाहिये। जब कामकी इच्छा शान्त होजावे तब ही साधुका चारित्र धारण करे। उससमय इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहको उसीतरह ग्लानिसहित त्याग दे जिस तरह विषसे मिश्रित भोजनको प्राणघातक समझकर त्याग दिया जाता है। ज्ञानी संत पुरुष विषसे भी अधिक भयंकर विषयोंकी तृष्णाको समझते हुए उसको भलेप्रकार जीतते हैं। आत्मरसका वेदन ही तृष्णा शमनका उपाय है।

कर्मणां शोधनं श्रेष्ठं ब्रह्मचर्यं सुरक्षितं।

सारभूतं चरित्रस्य देवैरपि सुपूजितम् ॥११९॥

अन्वयार्थ-(कर्मणां शोधनम्) कर्मोंको क्षय करनेवाले (चरित्रस्य सारभूतं साधुके चारित्रका सार (देवैः अपि सुपूजितम्) तथा देवोंसे भी आदरणीय ऐसे (श्रेष्ठं ब्रह्मचर्यं) उत्तम ब्रह्मचर्य-व्रतकी (सुरक्षितं) भले प्रकार रक्षा करनी योग्य है।

भावार्थ ब्रह्मचर्य व्रत निश्चयसे ब्रह्मस्वरूप अपने आत्मामें चर्या करना है। अर्थात् निज आत्माका अनुभव है। इसीका निमित्त कारण कामभावको त्यागकर बाहरी वीर्यकी रक्षारूप ब्रह्मचर्य है। सब व्रतोंमें, सब तपोंमें सारभूत यह ब्रह्मचर्य है। उसीके कारण देवगण साधु-ओंके चरणोंको नमस्कार करते हैं। इसी ब्रह्मचर्यसे वीतरागताके प्रभा-वसे कर्मोंकी निर्जरा होती है, ऐसा जानकर बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकारके ब्रह्मचर्यको भले प्रकार पालना चाहिये।

स्त्रियोंका स्वरूप ।

या चैषा प्रमदा भाति लावण्यजलवाहिनी ।

सैषा वैतरणी घोरा दुःखोर्मिशतसंकुला ॥ १२० ॥

अन्वयार्थ-(या च एव) जो यह (प्रमदा) युवान स्त्री (लावण्यजलवाहिनी) सुन्दरतारूपी जलसे भरी हुई नदीसी (भाति) दिख रही है (सा एषा) वही यह (दुःखोर्मिशतसंकुला) हजारों दुःखरूपी तरंगोंसे भरी हुई (घोरा) भयानक (वैतरणी) नर्ककी वैतरणी नदीके समान हैं।

भावार्थ-शरीरकी सुन्दरतासे झलकती हुई स्त्रीको देखकर रागीका मन मोहित होजाता है। आचार्य कहते हैं कि वह स्त्री नहीं है किंतु नर्ककी घोर भयंकर वैतरणी नदी है। यह उपमा पुरुषकी अपेक्षासे दी है, अपनी अपेक्षासे स्त्री व पुरुषका रूप अपने२ बांधे हुए नामकर्मके उदयसे सुंदर या असुंदर होता है। मोही पुरुष जब सुंदर स्त्रीमें मोहित होजाता है तब जैसे वैतरणी नदीमें नहानेसे दाह मिटनेकी अपेक्षा अधिक बढ़ जाती है, वैसे स्त्रीके मोहमें फंसनेसे कामदाह बढ़ जाती है। जब स्त्रीसंभोग करता है तो और अधिक कामदाहको बढ़ा लेता है। जितना२ वैतरणी नदी तुल्य स्त्री सुखमें डूबा जाता है, उतना२ कामदाह अधिक होता जाता है, और यह प्राणी इस स्त्रीके मोहके कारण मोक्षका मार्ग नहीं साध सक्ता है।

संसारस्य च बीजानि दुःखानां राशयः पराः ।

पापस्य च निधानानि निर्मिता केन योषिताः ॥१२१॥

अन्वयार्थ-(संसारस्य बीजानि) संसारको उत्पन्न करनेके लिये बीजके समान (च दुःखानां परः राशयः) और दुःखोंकी भरी हुई गंभीर खान तुल्य (च पापस्य निधानानि) तथा पाप मैलके भंडार सम (योषितः) इन स्त्रियोंको (केन निर्मिताः) किसने बनाया है?

भावार्थ-यहां भी स्त्रियोंका स्वरूप मोही पुरुषकी अपेक्षासे बताया है। जो कोई स्त्रियोंके मोहमें फंस जाता है उसका संसार बढ़ता है। उसे मोक्षका बीज नहीं मिलता है। उसे इष्टवियोग व शारीरिक रोग निर्बलता आदिके दुःख बहुत सहने पड़ने हैं। तथा उसके रागी व मोही व कामी भावोंमे निरंतर पापका बंध होता है। अतएव ज्ञानी जीवको स्त्रियोंमे मोह न करना योग्य है।

> इयं सा मदनज्वाला वह्नेरिव समुद्गता।
> मनुष्यैर्यत्र हूयंते यौवनानि धनानि च॥ १२२॥

अन्वयार्थ-(इयं सा) जो यह (मदनज्वाला) कामका दाह है सो (वह्नेः इव) अग्निके समान (समुद्गता) बढ़ जाता है (यत्र) जिस कामकी आगमें (मनुष्यैः) मानव (यौवनानि) यौवनको (धनानि च) तथा धनको (हूयंने) होम देते हैं।

भावार्थ-स्त्रियोंके मोहमें अन्धा हुआ प्राणी ऐसी कामकी अग्नि जला लेता है जिसकी पीड़ामे आकुलित होकर यह वेश्या व परस्त्रियोंमें आशक्त होकर अपने शरीरका यौवन नष्ट करके वृद्ध व निर्बल होजाता है और धन नाश करके निर्धन होजाता है। कामी मानव अपना सर्वस्व खोकर दीनहीन जीवन बिताकर दुर्गतिमें चला जाता है।

> नरकावर्तपातिन्यः स्वर्गमार्गदृढार्गलाः।
> अनर्थानां विधायिन्यो योषितः केन निर्मिताः॥१२३॥

अन्वयार्थ—(नरकावर्तपातिन्यः) नरकके गड्ढेमें गिरानेवाली (स्वर्गमार्गदृढार्गलाः) स्वर्गके मार्गमें चलनेके लिये रोकनेको मजबूत अर्गला या भींत हैं (अनर्थानां विधायिन्यः) अनेक आपत्तियोंको करानेवाली (योषितः) ऐसी स्त्रियोंको (केन) किसने (निर्मिताः) बनाया है ?

भावार्थ—पुरुषोंका स्त्रियोंके मोहमें पड़नेसे क्या बिगाड़ होता है इसी अपेक्षासे यहां भी कथन है कि स्त्रियोंके मोहमें जो अन्ध होकर अन्याय करते हैं वे नर्क चले जाते हैं। उनसे ऐसे शुभ काम नहीं बनते जिनसे पुण्य बंधकर स्वर्ग जासकें। तथा अनेक शारीरिक मानसिक कष्ट इन स्त्रियोंके कारण भोगने पड़ते हैं। अतएव स्त्रियोंका मोह जीवनको नष्ट करनेवाला है।

कृमिजालशताकीर्णे दुर्गन्धमलपूरिते ।
स्नायुमात्रसंवृते स्त्रीणां का काये रमणीयता ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थ—(कृमिजालशताकीर्णे) हजारों कीड़ोंके समूहसे भरी हुई (दुर्गन्धमलपूरिते) दुर्गंध व मलसे पूर्ण (स्नायुमात्रसंवृते) मात्र चमड़ेसे ढकी हुई (स्त्रीणां काये) स्त्रियोंकी कायमें (का रमणीयता) कैसी सुंदरता है ?

भावार्थ—अज्ञानी प्राणी स्त्रियोंके रूपका मोही होकर बावला होजाता है। इस कारण आचार्य कहते हैं कि स्त्रियोंका शरीर ऊपर चमड़ीसे ढका हुआ सुंदर भासता है परन्तु भीतरमें यह शरीर लाखों कीड़ोंसे व मलमूत्र पीपादिसे भरा हुआ है, दुर्गन्धमय है, जिसको देखने मात्रसे घृणा होजाती है। ऐसे शरीरमें न तो कोई सुंदरता है और न यह सेवने योग्य है। अतएव स्त्रीमें विरक्तभाव रखना चाहिये।

वैराग्य सुखका कारण है।

अहो ते सुखितां प्राप्ता ये कामनलवर्जिताः।
सद्वृत्तं विधिना पाल्य यास्यन्ति पदमुत्तमं ॥ १२५ ॥

अन्वयार्थ-(अहो) हे भाई! (ये) जो (कामानलवर्जिताः) कामकी आगसे नहीं जलते हैं (ते) वे (सुखितां प्राप्ताः) सुखकी दशाको पहुंच गए हैं, वे ही (विधिना) विधिपूर्वक (सद्वृत्तं) सम्यक्चारित्रको (पाल्य) पालन करके (उत्तमं पदं) उत्तम मोक्षपद (यास्यन्ति) को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ-सुख शांति तब ही मिलती है जब संतोष हो व विषयोंकी इच्छा न हो। जिन्होंने कामकी दाह शमन करदी है। ब्रह्मचर्य व्रतको भावसहित धारण किया है वे ही निराकुल होनेसे सुखी है तथा वे ही मुनिधर्मकी क्रियाओंको शास्त्रानुकूल विधिसे पालते हैं उनके भीतर आत्मानुभव रूप निश्चय चारित्र बढ़ता जाता है वे शीघ्र ही कर्मोंको क्षय करके मुक्त होजाते हैं।

भोगार्थी य करोत्यज्ञो निदानं मोहसंगतः।
चूर्णीकरोत्यसौ रत्नं अनर्थसूत्रहेतुना ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थ-(यः भोगार्थी) जो भोगोंको चाहनेवाला (अज्ञः) अज्ञानी (मोहसंगतः) मोहके संयोगसे मोही होकर धर्म पालते हुए भी (निदानं करोति) निदान या आगामी भोगोंकी चाहना करता है (असौ) वह (अनर्थसूत्रहेतुना) बेमतलब सूतके लिये (रत्नं) रत्नको (चूर्णीकरोति) चूर्ण कर डालता है।

भावार्थ-वह मानव मूर्ख है जो सूतके लिये रत्नकी मालामें

रत्नोंको चूरा करके फेंक दे और अंकोले मुलको लेले। इसी तरह वह मानव भी मूर्ख है जो जिनेन्द्र कथित धर्मको पालते हुए आगामी भोगोंकी चाहना करके निदान भावसे अपने रत्नत्रय धर्मको नाश कर देवे। ये भोग रोगके समान त्यागने योग्य हैं। आत्मानंदका भोग ही ग्रहण करने योग्य है। इसीके लिये जिनधर्मका सेवन किया जाता है। ज्ञानी मानव नाशवंत संसारवर्द्धक भोगोंकी कभी चाहना नहीं करता है, किंतु मुक्तिके अनुपम निराकुल सुखकी भावना करते हुए ही जिनधर्मको पालता है, निदान कभी नहीं करता हैं।

भवभोगशरीरेषु भावनीयः सदा बुधैः।
निर्वेदः परया बुद्धया कर्मारातिजिघृक्षुभिः॥१२७॥

अन्वयार्थ-(कर्माराति जिघृक्षुभिः) कर्मरूपी शत्रुओंको पकड़नेकी इच्छा करनेवाले (बुधैः) बुद्धिमानोंको (भवभोग-शरीरेषु) संसार, भोग व शरीरमें (निर्वेदः) वैराग्य (परया बुद्धया) बड़ी बुद्धिमानीके साथ (सदा भावनीयः) सदा मनन करना चाहिये।

भावार्थ-कर्मोंको जीतनेका उपाय वैराग्य भाव है, क्योंकि रागभाव ही कर्मोंके बंधका मूल कारण है। इसलिये वीर संतोंको कर्मोंपर विजय पानेके लिये बड़ी बुद्धिमानीके साथ वारवार यह मनन करना चाहिये। यह संसार असार है। चारों ही गतियोंमें जीवोंको दुःख है। अज्ञानीको कहीं भी सुख शांति नहीं मिल सक्ती है। यह शरीर क्षणभंगुर है व अत्यन्त अपवित्र है। इससे छूटना ही हितकर है। इन्द्रियके भोग अतृप्तिकारी हैं, तृष्णाके बढ़ानेवाले हैं,

विषके समान आत्मघातक हैं। जब संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य भाव होगा तब ही मोक्षमार्गमें प्रेमभाव होगा ।

यावन्न मृत्युवज्रेण देहशैलो निपात्यते ।
नियुज्यतां मनस्तावत् कर्मारातिपरिक्षये ॥१२८॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जबतक (देहशैलः) यह शरीररूपी पर्वत (मृत्युवज्रेण) मरणरूपी वज्रसे (न निपात्यते) नहीं गिराया जावे (तावत्) तबतक (कर्मारातिपरिक्षये) कर्मरूपी शत्रुओंके नाश करनेमें (मनः नियुज्यतां) मनको जोड़ना चाहिये ।

भावार्थ–वीर योद्धा उस समयतक बराबर प्रयत्नशील रहता है जबतक कि अपने शत्रुका जड़मूलसे नाश न कर डाले। इसी न्यायसे कर्मरूपी शत्रुके क्षयके लिये ज्ञानीको निरंतर अपना मन लगाना चाहिये। तथा ऐसा आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिये जिससे वीतरागता प्रगट होवे, क्योंकि वीतरागभाव ही कर्मोंके क्षयानेमें कारण है। यह काम जितनी जल्दी हो करलेना चाहिये। मानव देहमें ही कर्मोंका क्षय होसक्ता है। मरणके आनेका निश्चय नहीं है अतएव मरण आनेके पहले ही शीघ्रसे शीघ्र जो कुछ अपना आत्म-हित हो उसे करते रहना चाहिये ।

त्यज कामार्थयोः संगं धर्मध्यानं सदा भज ।
छिंदि लोभमयान् पाशान् मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ॥१२९॥

अन्वयार्थ–(दुर्लभम् मानुष्यं प्राप्य) इस दुर्लभ मानव जन्म-को पाकर (कामार्थयोः संगं त्यज) तू कामभोग व द्रव्य विभूतिका ममत्व छोड़ (लोभमयान् पाशान् छिंदि) लोभमई जालोंको छेद (धर्मध्यानं सदा भज) और धर्मध्यानको सदा पाल ।

भावार्थ–मानव जन्मका मिलना बड़ा ही कठिन है। ऐसे नरजन्मको पाकर वह उपाय अवश्य करना योग्य है जिससे धर्मध्यान होसके, आत्मानन्द मिल सके और भावी जीवनमें उत्तम पद प्राप्त हो। इसलिये द्रव्योपार्जन करने व कामभोग करनेका साधन जो गृहस्थ जीवन है उसको त्याग किया जावे, कुटुम्ब परिवार मित्रादिसे स्नेह तोड़ दिया जावे, पूर्ण वैराग्यवान होकर निश्चिन्तताके साथ निज आत्माका ध्यान किया जावे। धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक होसक्ता है सो आजकल संभव है। इसलिये त्याग भाव धरकर आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है।

कथं ते भृष्ट सदृवृत्त ! विषयानुपसेवते।
पंचतां हरतां तेषां नरके तीव्रवेदना॥ १३० ॥

अन्वयार्थ–नोट:–यह श्लोक पूर्ण शुद्ध नहीं दिखता है. इसका भाव कहा जाता है–(ते भृष्ट सदवृत्त कथं विषयान् उपसेवते) वे चारित्र भृष्ट होकर क्यों इन्द्रिय विषयोंको वारंवार सेवते हैं (पंचतां हरतां) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांचोंके भिन्न २ होनेपर अर्थात् मर जानेपर (तेषां नरके तीव्रवेदना) उनको नरकमें तीव्र दुःख होगा।

भावार्थ–इन्द्रियभोगोंकी लोलुपता कृष्ण नील कपोत लेश्या सम्बन्धी परिणामोंकी उत्पत्तिका बीज है। जिन भावोंसे जीवोंको नरकायुका बंध होजाता है, नरकमें जाकर तीव्र वेदना सहना पड़ती है, ऐसा समझकर भी फिर भी जो इंद्रियोंके विषयोंके भीतर वारवार अनुरक्त होकर परम पवित्र जैन धर्मका साधन नहीं करते हैं यही बड़े आश्चर्यकी बात है।

सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां विषयासंगसंगिनाम्।
तेषामिहैव दुःखानि भवन्ति नरकेषु च ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थ-(सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां) जिनका मन सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट हो गया है (विषयासंगसंगिनां) तथा जो इन्द्रियोंके विषयोंमें मगन हैं (तेषां इहैव दुःखानि) उनको यहां भी दुःख होते हैं (नरकेषु च) तथा मरनेके पीछे नरकोंमें जाकर घोर वेदना सहनी पडती है।

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके मार्गसे विमुख होकर मिथ्यात्वकी कीचमें पड़कर रातदिन इन्द्रियोंके विषयोंमें तल्लीन रहते हैं वे यहां भी इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिंतवन, और निदान बंध, ये चार आर्तध्यानसे दुःखित रहते हैं, तृष्णाकी दाहसे जलते रहते हैं तथा पीछे मरकर नरकमें घोर दुःख पाते हैं। इसलिये ज्ञानी जीवोंको भले प्रकार इस भोगोंका विपरीत स्वभाव विचार करके इनसे विरक्त होकर होसके तो सर्वथा त्यागका जीवन बिताकर आत्मानंद लेना योग्य है। अन्यथा गृहस्थमें संतोषपूर्वक रहकर न्यायोपार्जित भोग भोगते हुए मुनिधर्मकी भावना भाते हुए गृहीके अहिंसादि बारह व्रत पालने चाहिये, आत्मानुभवका मुख्यतासे अभ्यास करना चाहिये।

विषयास्वादलुब्धेन रागद्वेषवशात्मना।
आत्मा च वंचितस्तेन यः शमं नापि सेवते ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थ-(यः) जो कोई (विषयास्वादलुब्धेन) इन्द्रियोंके विषयोंके स्वादमें लुभाकर (रागद्वेषवशात्मना) रागद्वेषके आधीन होता

हुआ (शमं नापि सेवते) शांतभावका सेवन नहीं करता है (तेन) उसने (आत्मा वंचितः) अपने आपको ठगा है ।

भावार्थ—इस मानवजन्मको पाकर सुखशांतिका लाभ करना चाहिये । जो इस वर्तनसे विमुख होकर इन्द्रियोंके सुखोंके स्वादमें लोभी होजाता है वह इष्ट पदार्थोंसे राग व अनिष्टसे द्वेष करता हुआ कर्मोंको बांधकर इस संसारमें दीर्घकाल भ्रमण करके बहुत कष्ट उठाता है । उसने अपने कल्याणके अवसरको खोकर अपने आपको धोखा दिया है व अपना बुरा किया है । इसलिये बुद्धिमान मानवको कौडीके पीछे रतन न गमाना चाहिये । विषयास्वादके पीछे आत्माके आनन्दका अपूर्व लाभ न खोना चाहिये ।

आत्मना यत्कृतं कर्म भोक्तव्यं तदनेकधा ।

तस्मात् कर्मास्रवं रुद्ध्वा स्वेन्द्रियाणि वशं नयेत् ॥ ९२॥

अन्वयार्थ–(यत्) जो (कर्म) कर्मबंध (आत्मना कृतं) आत्माने किया है (तत् अनेकधा भोक्तव्यं) उसीका फल अनेक तरहसे भोगना पडता है (तस्मात्) इसलिये (कर्मास्रवं) कर्मोंके आस्रवको (रुद्ध्वा) रोककर (स्वेन्द्रियाणि वशं नयेत्) अपनी इन्द्रियोंको वश करे ।

भावार्थ—कर्मबंधसे ही जीवको अनेक कष्ट भोगने पडते हैं । इसलिये कर्मोंके आस्रव और बंधको रोकना उचित है । इसी कारणसे उन इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना चाहिये जिनके आधीन होकर यह जीव रागद्वेषमें फंसकर अकर्तव्यको करने लगता है, अभक्ष्यको खाने लगता है, अन्यायमें प्रवृत्ति कर लेता है ।

इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा स्वात्मानं वशमानयेत्।

येन निर्वाणसौख्यस्य भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ॥१३४॥

अन्वयार्थ—(इंद्रियप्रसरं रुद्ध्वा) इन्द्रियोंकी इच्छाओंके विस्तारको रोककरके (स्वात्मानं वशं आनयेत्) अपने आपको अपने आधीन रक्खे (येन) जिससे (त्वं) तू (निर्वाणसौख्यस्य भाजनं प्रपत्स्यसे) निर्वाण सुखका पात्र होजायगा।

भावार्थ—इन्द्रियोंको और मनको वश करनेसे ही उपयोग अपने ही घरमें, अपने आत्माके स्वभावमें क्रीड़ा करने लगता है तब सहजहीमें आत्मसुखका स्वाद आने लगता है। इसी आत्मप्रवृत्तिका अभ्यास जितना२ बढ़ता जाता है उतना२ ही निर्वाण सुख निकट आता जाता है। पूर्ण वीतराग होना ही, निर्वाणका अधिपतिपना है।

सम्पन्नेष्वपि भोगेषु महतां नास्ति गृद्धता ॥

अन्येषां गृद्धिरेवास्ति शमस्तु न कदाचन ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थ—(भोगेषु संपन्नेषु अपि) विषयभोगोंकी पूर्णता होनेपर भी (महतां) महान पुरुषोंकी (गृद्धता) लोलुपता (नास्ति) उनमें नहीं होती है (अन्येषां) अन्य मिथ्यादृष्टी जीवोंकी (गृद्धिः एव अस्ति) लोलुपता होती ही है (तु कदाचन शमः नास्ति) उनको कदापि शांति नहीं मिलती है।

भावार्थ—गृहस्थ अवस्थामें रहनेवाले चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर आदि होते हैं। उनके इच्छित भोगोंकी सर्व सामग्री होती है। वे उनमें न तो लोलुप होते हैं, न तृष्णाकी दाह उत्पन्न करते हैं। वे आत्मानंदके ही रोचक होते हैं॥ नाशिवानोहनीयके [illegible] उनको

इन्द्रियभोग करना पड़ता है, परन्तु वे उसे त्यागने योग्य ही समझते हैं। इसी दशामें उनका आत्महित नाश नहीं होता है, परन्तु मिथ्यादृष्टिको आत्मसुखका विश्वास नहीं होता है। वह इन्द्रियसुखको ही सुख समझता है। इसलिये भोग सामग्री अल्प होनेपर भी वह बड़ा लोलुप होता है। विषयकी दाहमें जलता हुआ वह कभी भी शांति नहीं पाता है।

षट् खंडाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम्।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षा दैगम्बरी स्थिता ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थ—(षट् खंडाधिपतिः चक्री) छः खंडका स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् (वसुंधरां) इस पृथ्वीको (च सर्वभोगान्) और सर्व भोग्य पदार्थोंको (तृणवत्) तृणके समान जानकर (परित्यज्य) छोड़ देता है (दैगम्बरी दीक्षा स्थिता) व निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिकी दीक्षा धार लेता है।

भावार्थ—ज्ञानी सम्यक्दृष्टी चक्रवर्ती पुण्यके उदयसे प्राप्त भोग्य पदार्थोंको व छः खंड पृथ्वीको भोगते हुए भी उदास रहते हैं। वे आत्मानंद और आत्मशांतिके ही रोचक होते हैं। जबतक कषायका उदय मन्द नहीं होता है तब ही तक गृहस्थमें रहते हैं। जब स्वात्मानुभवका अभ्यास करते हुए उनका प्रत्याख्यानावरण कषाय उपशम होजाता है तब वे शीघ्रही सर्व परिग्रह त्यागकर मुनिदीक्षा धारण कर लेते हैं, जो साक्षात मोक्षका उपाय है।

कृमितुल्यैः किमस्माभिः भोक्तव्यं वस्तु सुंदरं।
तेनात्र गृहपंकेषु सीदामः किमनर्थकम् ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थ-(कृमितुल्यैः) कीड़ोंके समान (अस्माभिः) हम लोगोंको (किं सुंदरं वस्तु भोक्तव्यं) क्या सुन्दर पदार्थोंका भोग करना चाहिये (तेन) जिससे (अत्र) इस लोकमें (गृहपंकेषु) घरकी कीचमें फंसकर (अनर्थकम्) वृथा (किं) क्यों (सीदामः) कष्ट उठाना पडे।

भावार्थ-वर्तमान इस दुःखमा पंचमकालमें चौथे कालकी अपेक्षा मानवोंकी अवस्था कीड़ोंके बराबर है। भोग सामग्री भी बहुत अल्प है। बुद्धिमानोंको उचित है कि इन अतृप्तिकारी भोगोंमें लिप्त न होकर ऐसा उपाय करें जिससे इस आत्माको इस जन्ममें भी सुख हो और परलोकमें भी सुख हो। यदि ऐसा न करके तुच्छ भोगोंमें तन्मय हुआ जायगा तो गृहस्थीकी कीचड़में यहां भी कष्ट होगा व पाप बांधकर आगे भी दुःख होगा, कभी शांति नहीं मिल सक्ती है, मानव जन्म वृथा चला जायगा।

येन ते जनितं दुःखं भवाम्भोधौ सुदुस्तरम्।
कर्मारातिमतीवोग्रं विजेतुं किं न वाञ्छसि ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थ-(येन) जिसके द्वारा (ते) तुझे (भवाम्भोधौ) इस संसाररूपी समुद्रमें (सुदुस्तरं दुःखं जनितं) अतीव कठिन दुःख प्राप्त हुए हैं (अतीव उग्रं) ऐसे अत्यंत भयानक (कर्मारातिम्) कर्मरूपी शत्रुको (विजेतुं) जीतनेकी (किं न वाञ्छसि) क्यों नहीं इच्छा करता है ?

भावार्थ-आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीव! कर्मोंके संयोगसे तूने इस संसार-समुद्रमें गोते खाते हुए बहुत ही भयानक

असह्य दुःख उठाए हैं, तेरा शुद्ध स्वरूप इन कर्मोंने छिपा दिया है। तुझे अविद्या तथा तृष्णाका दास बना दिया है। इन कर्मोंके जीतनेका यह अवसर है। यदि तू चाहता है कि कर्मोंसे सताया न जावे तो पुरुषार्थ करके ऐसा संयम व तपका साधन कर जिससे कर्म निर्बल होकर क्षीण होजावें और तू मुक्त होजावे। ऐसा अवसर फिर २ मिलना कठिन है। श्री जिनधर्मकी शरण ग्रहण करेगा और उसकी आज्ञामें चलेगा तो अवश्य जिनके समान हो जायगा। यही सच्चा जैनीपना है, जो कर्मोंको जीतनेका साहस करके पुरुषार्थ करे।

अब्रह्मचारिणो नित्यं मांसभक्षणतत्पराः ।
शुचित्वं तेऽपि मन्यन्ते किन्नु चित्रमतः परम् ॥१३९॥

अन्वयार्थ—(अब्रह्मचारिणः) कोई २ ब्रह्मचर्यको न पालते हुए (नित्यं) सदा ही (मांसभक्षणतत्पराः) मांस भोजनमें लगे रहते हैं (ते अपि शुचित्वं मन्यंते) तो भी वे अपनेको पवित्र मानते हैं (किन्नु अतः परं चित्रं) इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ?

भावार्थ—जगतके मोहमें फंसे हुए, मांसाहार करते हुए, कुशील सेवते हुए, कोई २ अपनेको धर्मात्मा व पवित्र मानते हैं यह बात आश्चर्यकारी इसलिये है कि जब मांसाहारी व कुशीला मानव भी अपनेको पवित्र मानेगा तो फिर अपवित्र किसको कहा जायगा ? अर्थात् यह उनका भ्रम है। ऐसे मानव पवित्र नहीं होसकते हैं।

येन संक्षीयते कर्म संचयश्च न जायते।
तदेवात्मविदा कार्यं मोक्षसौख्याभिलाषिणा ॥ १४० ॥

अन्वयार्थ-(येन कर्म संक्षीयते) जिस कारणसे पूर्व कर्मोंका क्षय होजावे (च संचयः न जायते) व नवीन कर्मोंका संचय न हो (तत् एव) वह ही काम (मोक्षसौख्याभिलाषिणा) मोक्ष-सुखके अभिलाषी (आत्मविदा) आत्मज्ञानीको (कार्यं) करना योग्य है।

भावार्थ-आत्माके महान् शत्रु कर्म हैं। जबतक कर्मोंका संयोग जीवके साथ रहता है तबतक जीव स्वतंत्र नहीं होता हुआ पराधीन-पने आकुलताको सहता है व अपने स्वाभाविक आनन्दका लाभ नहीं कर सक्ता है। तथा जन्म मरणादि दुःखोंको भवभवमें उठाता है। इसलिये कर्मोंका नाश आवश्यक कर्तव्य है। नए कर्मोंके रोकनेका व पुरातन कर्मोंकी निर्जराका उपाय वास्तवमें सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शन सहित चारित्र तथा आत्मानुभव है अतएव ज्ञानीको उद्यम करके आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है।

चार गतिका दुःख सुख।

अनेकशस्त्वया प्राप्ता विविधा भोगसम्पदः।
अप्सरागणसंकीर्णे दिवि देवविराजते ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थ-(अप्सरागणसंकीर्णे) देवियोंसे भरे हुए व (देवविराजिते) देवोंसे शोभायमान (दिवि) स्वर्गमें (त्वया) तूने (अनेकशः) अनेक तरहसे (विविधा) नाना प्रकार (भोगसम्पदः) भोग सम्पदाएं (प्राप्ताः) पाई हैं।

भावार्थ-इस संसारमें भ्रमण करते हुए हे आत्मन्! तूने पुण्यके उदयसे जब देवगति पाई और स्वर्गमें देव पैदा हुआ तब तेरी सेवा अनेक देवियोंने की व अनेक देव हाजरीमें खड़े रहे। तूने स्वर्ग सरीखे मनोज्ञ भोगोंको वारवार भोगा है परन्तु तेरी तृप्ति नहीं हुई। तू अबतक तृषातुर ही बना रहा। स्वर्गोमें इन्द्रियोंके सुखोंकी हद है उनको भी इस जीवने भोग है, परन्तु तृष्णा नहीं मिटी।

पुनश्च नरके रौद्रे रौरवेऽत्यन्तभितिदे।
नानाप्रकारदुःखौघैः संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥१४२॥

अन्वयार्थ-(पुनः च) तथा ऐसे ही (अत्यन्त भीतिदे) अतिशय भयानक (रौरवे रौद्रे नरके , रौरव नामके कष्टप्रद नर्कमें (विधेः वशात्) कर्मोंके वश (नानाप्रकारदुःखौघैः) नाना प्रकारके दुःख-समूहोंसे घिरा हुआ (संस्थितः असि) तु रहा है।

भावार्थ-जब तूने अधिक पाप बांधे तब तू नर्कमें दीर्घकाल तक रहकर नाना प्रकारके भयानक दुःखोंके बीचमें पड़ा रहा। वहां परस्पर नारकी एक दूसरेको कष्ट देते हैं। तीसरे नर्क तक असुर-

कुमार जातिके देव जाकर नारकियोंको लड़ाते हैं। वहां भूमि बड़ी दुर्गंधमय है, पवन कठोर है, पानी खारा है, वृक्ष कांटेदार पत्रोंको रखते हैं। नर्कमें कोई सामान सुखप्रद नहीं है। नरकोंके जो दुःख शास्त्रमें कहे हैं उनको सुननेसे ही मन कांप जाता है। जिसको भोगना पड़ता है उसको वही जानता है या केवली भगवान जानते हैं। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी जीव प्रायः नर्क जाते हैं। रौद्र ध्यानसे बचना चाहिये। यह नर्कगतिका कारण है।

तप्ततैलिकभल्लीषु पच्यमानेन यत्त्वया।
संप्राप्तं परमं दुःखं तद्वक्तुं नैव पार्यते ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थ—(तप्ततैलिकभल्लीषु) गरम गरम तेलके कढ़ाओंमें (पच्यमानेन) पकाए जानेसे (यत् परमं दुःखं) जो महान् दुःख (त्वया संप्राप्तं) तूने प्राप्त किया है (तत् वक्तुं नैव पार्यते) उन दुःखोंको कहा नहीं जा सक्ता है।

भावार्थ—नरकोंके दुःख बड़े२ भयंकर हैं। गर्म गर्म तेलके कढ़ाओंमें नारकीको पटक देते हैं। उनमें पचते हुए नारकीको भयानक कष्ट भोगने पड़ते हैं। उन दुःखोंको हमारे ऐसे मानव कैसे वर्णन कर सक्ते हैं? उनका स्मरण इस जीवको नहीं है। यदि वहांके दुःख स्मरण आजावें तो प्राणीको असहनीय दुःख हो।

नानायंत्रेषु रौद्रेषु पीड्यमानेन वह्निना।
दुःसहा वेदना प्राप्ता पूर्वकर्मनियोगतः ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थ—(पूर्वकर्मनियोगतः) पूर्व बांधे हुए कर्मोंके उदयसे

(रौद्रेषु नानायंत्रेपु) भयानक नाना प्रकारके यंत्रोंमें (वह्निना पीड्य-मानेन) अग्निकी आतापसे कष्ट पाकर (दुःसहा वेदना प्राप्ता) दुःसह वेदना तुझे प्राप्त हुई है।

भावार्थ–तीव्र पापकर्मके उदयसे नर्कमें नारकीको बड़े२ गर्म२ यंत्रोंमें पीड़ते हैं तब आगकी गर्मीसे उसको महान घोर कष्ट होता है जिसको कोई संसारी कह नहीं सक्ता।

विण्मूत्रपूरिते भीमे पूतिश्लेष्मवसाकुले।
भूयो गर्भगृहे मातुर्दैवाद्यातोऽसि संस्थितिम् ॥१४५॥

अन्वयार्थ–(दैवतः) कर्मोंके उदयसे (भूयः) फिर इस जीवको (विण्मूत्रपूरिते) विष्टा और मूत्रसे भरे हुए (भीमे) भयानक (पूतिश्लेष्मवसाकुले) पीप कफ चरबीसे पूर्ण (मातुः) माताके (गर्भगृहे) गर्भमें (संस्थितिम् यातः असि) ठहरकर समय विताना पड़ता है।

भावार्थ-इस भयानक संसारमें भ्रमण करते हुए कभी यदि इस जीवने मंद कषायसे मानव आयु बांध ली तो यह मनुष्य गतिमें आकर माताके गर्भगृहमें नौ मासतक उल्टा रहता है। वह गर्भगृह नरकके समान है, मल मूत्रसे भरा है, पीप, कफ चरबीसे पूर्ण है, कृमियोंसे भी भरा है। ऐसे स्थानमें इस जीवको उल्टा टंगना पड़ता है। माताके आहारसे इसका पालन होजाता है। मानव-गतिमें गर्भमें नौ मास रहनेका बड़ा भारी कष्ट होता है। फिर जन्मते हुये घोर कष्ट होता है। मानवगतिके भी दुःख भयानक हैं। इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग तथा तृष्णाके दुःख अधिकांश जीवोंको

होते हैं। इसके सिवाय रोगादिकके व दलिद्रताके व इच्छित वस्तुको न पानेके इत्यादि बड़े २ कष्ट होते हैं।

तिर्यग्गतौ च यद् दुःखं प्राप्तं छेदनभेदनैः ।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तु जिह्वाकोटिशतैरपि ॥१४६॥

अन्वयार्थ–(च तिर्यग्गतौ) तिर्यंच गतिमें (छेदनभेदनैः) छेदनभेदनके द्वारा (यत् दुःखं प्राप्त) जो दुःख उठाए हैं (तत्) उनको (पुमान्) कोई मनुष्य (जिह्वाकोटिशतैः अपि) करोड़ों जिह्वाओंके द्वारा भी (वक्त न शक्तः) कहनेको समर्थ नहीं है।

भावार्थ–पशुगतिमें एकेन्द्रिय स्थावरोंके छेदनभेदनके दुःख विचारमें भी नहीं आसक्ते, पराधीनपने उनको सहने पड़ते हैं। विकलत्रय जीव भी गर्मी, सर्दी, भूख, प्याससे व मानवोंके अनेक आरम्भसे बड़े कष्टसे प्राण देते हैं। पञ्चन्द्रिय सैनी पशु मारणताडन, अधिक भार लादना, कठोर वचन प्रहारके, सबलद्वारा सताये जानेके इत्यादि महान दुःख पाते हैं।

संसृतौ नास्ति तत्सौख्य यन्न प्राप्तमनेकधा ।
देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता जन्तुनानिशं ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थ–(तत् सौख्यं) ऐसा कोई सुख (संसृतौ) इस संसारमें (नास्ति) नहीं है (यत् अनेकधा) जो अनेक तरहसे (जन्तुना) इस जीवने (अनिशं) रातदिन (देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता) देव, मानव व तिर्यंच गतियोंमें भ्रमते हुए (न प्राप्तं) न पाया हो।

भावार्थ–नरकगतिमें तो दुःख ही दुःख है। पशु, मनुष्य व देवगतिमें कुछ सांसारिक सुख है, उस सुखको इस जीवने वारवार

इन गतियोंमें जन्म ले ले कर पाया है तौ भी उस सुखसे इसकी तृप्ति नहीं हुई।

चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन संसारेऽत्यन्तभीतिदे।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थ-(अस्मिन्) इस (अत्यन्तभीतिदे) महान भय-दाई (चतुर्गतिनिबन्धे संसारे) चारगतिमई संसारमें (विधियोगतः) कर्मोंके उदयसे (भ्रमता) भ्रमण करते हुए (सुखदुःखानि) इस जीवने अनेक सुख व दुःख (अवाप्तानि) पाए हैं।

भावार्थ-यह संसार भ्रमणधर्म है। कर्मोंके उदयसे यह जीव बारबार नारक, पशु, मानव, देव इन चार गतियोंमें जाकर अच्छी या बुरी अनेक पर्यायोंको धारण कर चुका है। निगोदसे लेकर नौग्रेवियिक तकके शरीर बारबार धारण किये और छोड़े हैं। कभी कहीं दुख, कभी कहीं सुख पाया है। दुःख भी कोई बचा नहीं जो न पाया है, सुख भी कोई बचा नहीं जो न पाया है। दुःखोंसे आकुलित रहा। सुखमें उन्मत्त हुआ, परन्तु तृप्त प्राप्त नहीं हुई। तृष्णारूपी रोग बढ़ता ही गया।

वैराग्यकी आवश्यक्ता।

एवं विधमिदं कष्टं ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम्।
कथं न यासि वैराग्यं धिगस्तु तव जीवितम् ॥ १४९ ॥

अन्वयार्थ-(एवं विधं) इसतरह चारों गतियोंमें (अत्यन्तविनश्वरम्) अत्यन्त विनाशीक (इदं कष्टं) इस भ्रमणके कष्टको (ज्ञात्वा) जानकर (कथं वैराग्यं न यासि) क्यों वैराग्यको नहीं प्राप्त होता है ? (तव जीवितम् धिक् अस्तु) तेरे जीवनको धिक्कार हो।

भावार्थ-वह जीवन धिक्कारने योग्य है, जो कष्ट ही कष्टमें बीते। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रके वशीभूत होकर इस जीवने जन्म मरणके घोर कष्ट पाए। सर्वतरह दुःख व सुख भोगे, परन्तु कभी भी संतोष व सुख शांतिका लाभ नहीं किया। जीवन असार ही बना रहा। वृथा ही जीवनकी यात्राएं बीतीं। अपने ही भीतर जो सच्ची सुख शांति भरी है, उसको प्राप्त नहीं किया। कर्मोंकी पराधीनतामें दुःख ही दुःख भोगे। जिन असार सुखोंको वारवार परीक्षा करके देख लिया गया कि यह उपाय इच्छाओंके रोगोंके शमनका नहीं है, फिर भी यह मूर्ख इन निरर्थक उपायोंसे वैराग्य भाव नहीं रखता और सच्चे सुखका उपाय नहीं करता है, जो अपने ही पास है।

जीवितं विद्युता तुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणविन्दुवत् ॥ १५० ॥

अन्वयार्थ-(जीवितं विद्युता तुल्यं) यह जीवन तो बिजलीके चमत्कारके समान क्षणभंगुर है। (स्वप्नसन्निभाः ...के

संयोगके समान स्त्री, कुटुम्बादिका संयोग है (संध्यारागसमः स्नेहः) जगतके प्राणियोंके साथ स्नेह संध्याकी लालीके समान है (तृणबिन्दुवत् शरीरं) तिनके पर पड़ी हुई ओसकी बिंदुके समान शरीर पतनशील है।

भावार्थ—यह मूढ़ प्राणी जिन जिन पदार्थोंमें मोह करता है वे पदार्थ सब नाशवंत हैं। जीवन इतना मृत्युके मुखमें है कि मालूम नहीं किस समय मृत्यु जीवनको चवा डाले। जिन२ स्त्री, पुत्र, मित्रादिके संयोगसे हम बड़े राजी होते हैं, व अपनेको बहु कुटुंम्बी समझते हैं, वे ही देखते २ विला जाते हैं तब ऐसा ही भान होता है कि मानो स्वप्नमें ही स्त्री पुत्रादिको देखा हो। किसीसे स्नेह हो वह जरासी देरमें विला जाता है। उसकी इच्छानुसार वर्तन न करनेसे ही वह वैरी होजाता है। जैसे—संध्यासमयकी लाली अवश्य विला जाती है। तिनकेके ऊपर रखी हुई बूंदके गिर जानेका सदा ही खटका रहता है वैसे ही इस शरीरके गिर पडनेका व रोगी होजानेका सदा ही खटका रहता है।

शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः।
यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थ—(भोगाः शक्रचापसमाः) वे इंद्रियोंके भोगने योग्य पदार्थ इन्द्रधनुषके समान देखते २ नष्ट होजाते हैं। (जलदोपमाः सम्पदः) मेघोंके विघटनेके समान सम्पत्तिथां भाग जाती हैं (जलरेखा इव यौवनं) पानीमें खींची हुई रेखा जैसे तुर्त मिट जाती है वैसे यौवन शीघ्र मिट जाता है (एतत् सर्वं अशाश्वतम्) यह सर्व संसारकी माया नाशवन्त है।

भावार्थ–अज्ञानी प्राणी जिन २ पदार्थोंको स्थिर मानकर निश्चिन्त होकर धर्मसाधनसे विमुख रहता है वे सब पदार्थ बिलकुल नाशवंत हैं। भोग इन्द्रधनुषके समान हैं, सम्पत्तियें मेघके समान जाती हैं, यौवन जलकी रेखावत क्षणिक है, ऐसा जानकर बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि वह भोगोंमें लिप्त न हो, सम्पत्ति पाकर उन्मत्त न हो, युवानीका गर्व न करे, किंतु इन सबको नाशवंत जानकर अपने कल्याणमें कुछ भी प्रमाद न करे–निरन्तर धर्म साधन करके आत्माका हित करे।

समानवयसा दृष्ट्वा मृत्युना स्ववशीकृताः।
कथं चेतः समो नास्ति मनामपि हितात्मनः॥ १५२॥

अर्थ–यह श्लोक अशुद्ध मालूम होता है। अतएव इसका भावार्थ मात्र लिखा जाता है। मरणने सबको समान देखकर अपने वश कर लिया है। अर्थात् मरणके सामने कोई छोटा, बड़ा नहीं है। बालक, युवान, वृद्ध सर्व ही मरणके आधीन हैं। मरनेका कोई निश्चय नहीं है। अतएव अपने आत्माके हितमें मन नहीं लगता है यही आश्चर्यकी बात है। जब मरणका निश्चय नहीं है तब आत्माके हितमें कुछ भी ढील न करनी चाहिये।

सर्वाशुचिमये काये नश्वरे व्याधिपीडिते।
को हि विद्वान् रतिं गच्छेद्यस्यास्ति श्रुतसंगमः॥१५३॥

अन्वयार्थ–(यस्य श्रुतसंगमः अस्ति) जिस किसीको शास्त्र ज्ञानका समागम है (कः हि विद्वान्) ऐसा कौन विद्वान है जो (व्याधिपीडिते) रोगोंसे पीड़ित (सर्व अशुचिमये) सर्व तरह

अपवित्र (नश्वरे) व नाशवंत (शरीरं) शरीरमें (रतिं गच्छेत्) आसक्त होगा ?

भावार्थ–शास्त्रोंको पढकर जिसने शरीर और आत्माका ठीकर स्वरूप जाना है व तत्वोंका मनन किया है वह विद्वान भूलकर भी इस नाशवंत व अपवित्र-रोगोंसे पीडित शरीरमें रति न करेगा। वह इस शरीरके बंधनसे छूटना ही चाहेगा। अतएव अपने आत्माके हितमें जरा भी प्रमाद नहीं करेगा। विद्वान वही है जो विचार-पूर्वक कार्य करे।

चिरं सुपोषितः कायो भोजनाच्छादनादिभिः।
विकृतिं याति सोऽप्यन्ते कास्था बाह्येषु वस्तुषु ॥१५४॥

अन्वयार्थ–(भोजनाच्छादनादिभिः) भोजन वस्त्रादिसे (चिरं सुपोषितः) चिरकाल तक भले प्रकार पालन की हुई (कायः) यह काय रक्खी जाती है (सः अपि) ऐसी यह काय भी (अन्ते) अंतमें या मरणके समय (विकृतिं याति) विकारको प्राप्त होजाती है, बिगड़ जाती है, अपने वश नहीं रहती है। (बाह्येषु वस्तुषु) बाहरी पदार्थोंमें तब क्या (आस्था) विश्वास किया जावे।

भावार्थ–स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, मकान, नौकर, वस्त्रादि, रुपया, पैसा आदि सब पदार्थ बिलकुल अपनेसे भिन्न हैं तथापि उनका सम्बन्ध इस शरीरसे ही है। जिस शरीरके साथ आत्मा रात दिन रहता है व जिसे वह रातदिन भोजन, वस्त्र देकर पालता है, बड़ी भारी सम्हाल रखता है, शरीरके पीछे धर्मकार्यमें भी हानि पहुंचा देता है वही शरीर अंतमें अपनेको छोड़ देता है। जब वह

शरीर ही अपना नहीं रहता है तब बाहरी पदार्थोंमें क्या विश्वास किया जावे कि वे अपने रहेंगे। अर्थात् इस आत्माका कोई साथी संगी नहीं है। एक अपना पाला हुआ धर्म है जो हरजगह सहायी होता है। इसलिये शरीरके पीछे आत्महित न करना बड़ी भारी मूढ़ता है।

नायातो बन्धुभिः सार्द्धं न गतो बन्धुभिः समं।
वृथैव स्वजने स्नेहो नराणां मूढ़चेतसाम्॥ १५५॥

अन्वयार्थ-(बन्धुभिः सार्द्धं न आयातः) यह जीव अपने भाई बन्धुओंके साथ२ नहीं जन्मता है (न बन्धुभिः समं गतः) न बन्धुओंके साथ२ मरता है। (मूढ़चेतसाम् नराणां) मूढ़ बुद्धि मानवोंका (स्वजने स्नेहो) अपने बन्धु रिश्तेदारोंमें स्नेह (वृथा एव) वृथा ही है।

भावार्थ-जो कोई मूढ़ प्राणी हैं, जिनको अपने आत्माके स्वभावका व उसकी भिन्न सत्ताका विश्वास नहीं है वे रातदिन स्त्री पुत्र मित्रादिके स्नेहमें पागल रहते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि हरएक जीव भिन्न२ ही पैदा होता है, भिन्न२ ही मरता है। न कोई किसीके साथ जन्मता है, न कोई किसीके साथ मरता है। तथा एक कुटुम्बमें कोई जीव न किसे कोई पशुगतिसे कोई मानव गतिसे कोई देवगतिसे आता है। तथा अपने पाप व पुण्यके अनुसार कोई किसी गति कोई किसी गतिमें चला जाता है। किसीके साथ किसीका कोई चिरकालका सम्बन्ध नहीं है। एक कुटुम्बमें रहते हुए भी सब कोई स्वार्थवश ही एक दूसरेसे स्नेह करते हैं। इसलिये

ज्ञानी प्राणी इन कुटुम्बीजनोंके पीछे अपने आत्माके हितको कभी नहीं भूलते हैं। जलमें कमलवत् अलिप्त रहते हुए अपने आत्मोद्धारमें सदा सावधान रहते हैं।

जातेनाऽवश्यमर्तव्यं प्राणिना प्राणधारिणा।
अतः कुरुत मा शोकं मृते बन्धुजने बुधाः ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थ—(प्राणधारिणा प्राणिना) प्राणोंको धरनेवाला प्राणी (जातेन) जो जन्मा है (अवश्यम् मर्तव्यं) उसे अवश्य मरना पड़ेगा (अतः) इसलिये (बुधाः) बुद्धिमान जन (बन्धुजने) बन्धुजनके (मृते) मरनेपर (शोकं मा कुरुत) शोक नहीं करते हैं।

भावार्थ—शरीर एक परदेशके घरके समान है, उसमें प्राणी अपनी आयुसे अधिक नहीं रह सक्ता है। जन्मके पीछे अवश्य मरण है, मरणसे कोई बचा भी नहीं सक्ता है तब किसीके मरनेका शोक करना वृथा ही है, कुछ लाभ नहीं होता है। ज्ञानी जन अपने कुटुम्बियोंसे प्रयोजन वश स्नेह रखते हैं। अतएव उनके संयोगमें हर्ष व उनके वियोगमें विषाद नहीं करते हैं—समभाव रखते हैं।

आत्मकार्यंपरित्यज्य परकार्येषु यो रतः।
ममत्वरतचेतस्कः स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (आत्मकार्यं) अपने आत्माके हितका काम (परित्यज्य) छोड़कर (ममत्वरतचेतस्कः) चित्तमें ममताभावमें लीन होकर (परकार्येषु रतः) दूसरोंके कार्योंमें ही रत हो जाता है (स्वहितं) वह अपने आत्महितको (भ्रंशं एष्यति) नाश कर देगा।

भावार्थ-जो कोई शरीरका व कुटुम्बका मोही बनकर रात-दिन शरीरकी व कुटुम्बकी चिंतामें ग्रसित हो उन्हींके कार्योंमें लीन होजाता है और अपने आत्माका उद्धार जिस धर्मसेवनसे होता है उसको बिल्कुल ध्यानमें नहीं लेता है वह अपना आत्मकल्याण न करता हुआ संसारमें पापके भारसे कष्ट पाएगा, परन्तु जो विवेकी आत्महितको करता हुआ परोपकार बुद्धिसे परका भला करता है वह अपनी रक्षा कर सकेगा।

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चारित्रं दर्शनं तथा।
तपः संरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ-(स्वहितं तु) अपने आत्माका हित तो (दर्शनं तथा ज्ञानं चारित्रं चैव तपः संरक्षणं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित तथा तपकी रक्षा (भवेत्) से है (तत) इस बातको (सर्वविद्भिः उच्यते) सर्वज्ञोंने कहा है।

भावार्थ-सर्वज्ञदेवने भलेप्रकार जानकर यह उपदेश किया है कि सम्यग्दर्शन आदि चारों आराधनोंका वारवार विचार करना चाहिये व इनका सेवन करना चाहिये। यही धर्मसाधन है। इसीके प्रभावसे भावोंकी शुद्धि होती है जिससे कर्मोंका संवर व कर्मोंकी निर्जरा होती है, यही मोक्षका उपाय है। इनके आराधनसे वर्तमानमें भी जीव सुखी है व आगामी भी सुख पाएगा।

सुखसंभोगसंमूढा विषयास्वादलम्पटाः।
स्वहिताद् भ्रंशमागत्य गृहवासं सिषेविरे ॥१५९॥

अन्वयार्थ-(सुखसंभोगसंमूढा) जो प्राणी इन्द्रियोंके सुखोंके

भोगमें मूढ़ हो जाते हैं व (विषयास्वादलम्पटाः) विषयोंके स्वादमें लम्पटी होजाते हैं वे साधु हो करके भी (स्वहितात्) अपने आत्माके हितसे (भृंशं आगत्य) भ्रष्ट होकर (गृहवासं) गृहस्थके जीवनको (सिषेविरे) सेवन करने लगते हैं।

भावार्थ—आत्माका हित आत्मानंदका प्रेम व विषयोंसे वैराग्य है इसीसे मुक्तिका लाभ होता है। साधुपदको इसीलिये धारण किया जाता है कि निश्चिन्त होकर आत्मध्यान व शास्त्र मनन करके आत्माकी उन्नति की जावे और कर्मोंकी निर्जरा की जावे, परन्तु यदि कोई साधुपदमें रहते हुए मिथ्यात्वके उदयसे विषयोंका लंपटी होजावे व सांसारिक सुखोंका मोही होजावे तो उसका साधुपद भ्रष्ट होजाता है। और उसे फिर उसी गृहस्थको ग्रहण करना पड़ता है जिसे त्याग किया था। अर्थात् फिर वह साधारण मानव होकर अपने मानव जन्मको नष्ट कर देता है।

वियोगा बहवो दृष्टा द्रव्याणां च परिक्षयात्।
तथापि निर्घृणः चेतः सुखास्वादनलम्पटः ॥१६०॥

अन्वयार्थ—(द्रव्याणां च परिक्षयात्) धनादिके नाश हो जानेसे (बहवः वियोगाः दृष्टाः) बहुतसे वियोग प्राप्त दिखलाई पड़ते हैं (तथापि) तौभी (निर्घृणः चेतः) भोगोंसे घृणा न करता हुआ (सुखास्वादनलम्पटः) इन्द्रिय सुखके स्वादमें लम्पटी होजाता है।

भावार्थ—इस जगतमें भोग सम्पदाएं स्थिर नहीं रहती हैं। पापके उदयसे बहुतोंकी धनादि वस्तुएं नाश होजाती हैं तब उनको इष्टवियोगका बड़ा कष्ट होता है। वे दुःखोंके सागरमें डूब जाते हैं।

यह संसार संयोग वियोगरूप है। सम्पदा स्थिर नहीं रह सक्ती है, यौवन अथिर है, शरीर क्षणिक है, यकायक मरण आजाता है। प्राणी विषयोंकी तृष्णाको लिये हुए मर जाता है, स्वप्नसम क्षणभंगुर भोगोंका मोह महान दुःखदाई है, ऐसा जानकर भी अज्ञानी प्राणी इनसे घृणा नहीं करता है और फिर भी उन्हीं नाशवंत अतृप्तिकारी विषयोंके स्वादमें लम्पटी बना रहता है, जिससे अपने दोनों लोक बिगाड़ता है।

यथा च जायते चेतः सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम् ।
तथा ज्ञानविदा कार्यं प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थ-(ज्ञानविदा) ज्ञानीको (यथा च चेतः सुनिर्मलाम् सम्यक् शुद्धिं जायते) जिसतरह यह मन निर्मल होजावे व भले प्रकार आत्माकी शुद्धि होजावे (तथा भूरिणा प्रयत्नेन अपि कार्यं) उसीतरह बहुत प्रयत्न करके भी आचरण करना चाहिये ।

भावार्थ-जो आत्माका सच्चा हित करना चाहें उन ज्ञानियोंको उचित है कि अपने मन, वचन, कायका वर्तन इस तरहका रखें जिससे मनमें विषयलम्पटताका मैल निकल जावे। इस स्वप्नसम संसारसे वैराग्य होजावे व आत्माके ध्यानका व आत्मोद्धारका ऐसा प्रेम होजावे जिससे आत्माका कर्म मैल कटे और यह शुद्धिके मार्गपर आरूढ़ होता चला जावे। मानवजन्मका यही सार है जो इस आत्माको संसारकी पराधीनतासे बचाकर स्वाधीन किया जावे। विषयोंकी लम्पटता अनेक अनर्थोंमें पटकनेवाली है। गृहस्थ भी धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंका साधन नहीं कर सक्ता है। गृह त्यागीके साधनमें तो विषयलम्पटता वैरीपनका काम करती है।

विशुद्धं मानसं यस्य रागादिमलवर्जितम्।
संसाराग्र्यं फलं तस्य सफलं समुपस्थितम् ॥१६२॥

अन्वयार्थ-(यस्य) जिसका (मानसं) मन (रागादिमल-वर्जितम्) रागादि मैलसे रहित (विशुद्धं) शुद्ध है (तस्य) उसीके (संसाराग्र्यं फलं) इस जगतमें मुख्य फल (सफलं) सफल रूपसे (समुपस्थितं) प्राप्त हुआ है।

भावार्थ-इस जगतमें उसी मानवका जीवन सफल है जो अपने मनको रागादि भावोंसे दुर रखके आत्माके स्वभावके चिंतवनसे उसे शुद्ध करता है, वीतराग व समभावरूप परिणामोंमें अपनेको जोड़ता है। क्योंकि सरागता कर्मबन्ध करनेवाली है, वीतरागता कर्मबन्ध क्षय करनेवाली है। मोक्षका यथार्थ यत्न करना ही इस संसारमें जन्म लेनेका मुख्य फल है। ज्ञानीको निरंतर समभाव रखकर शुद्धात्म चिन्तवन करना योग्य है।

संसारध्वंसने हीष्टं धृतिमिन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये यत्नं नाभव्यो लब्धुमर्हति ॥१६३॥

अन्वयार्थ-(अभव्यः) अभव्य जीव (संसारध्वंसने हीष्टं) संसारके नाशमें प्रेम, (इन्द्रियनिग्रहे धृतिं) इन्द्रियोंके जीतनेमें धैर्य (कषायविजये यत्नं) कषायोंके विजयमें यत्न (हि लब्धुं न अर्हति) निश्चयसे नहीं कर सक्ता है-उसके योग्यताका अभाव है।

भावार्थ-अभव्य जीवके इतना तीव्र मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी कषायका उदय होता है कि उसकी रुचि सांसारिक सुखोंसे

नहीं हटती है। वह इन्द्रियसुखका ही प्रेमी होता है। फिर यह कैसे संभव होसक्ता है कि वह अभव्य जीव संसारके नाशमें प्रेम करे, पांच इन्द्रियोंको रोक ले तथा क्रोधादि कषायोंके जीतनेका उद्यम कर सके। यद्यपि भव्य अभव्यकी पहचान सर्वज्ञके ज्ञानगोचर है, तथापि जिसकी कुछ भी प्रीति धर्मसे हो व संसारसे कुछ वैराग्य हो तब अपनेको भव्य जानकर इन्द्रियकषायोंके विजयका यत्न करते ही रहना चाहिये।

एतदेव परं ब्रह्म न विन्दन्तीह मोहिनः ।
यदेतच्चित्तनैर्मल्यं रागद्वेषादिवर्जितम् ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थ—(यत् एतत्) जो यह (रागद्वेषादिवर्जितम्) रागद्वेषादि रहित (चित्तनैर्मल्यं) चित्तकी निर्मलता है (एतत् एव परं ब्रह्म) यह ही परब्रह्मका स्वरूप है (इह मोहिनः न विन्दन्ति) इस जगतमें संसारके मोही जीव इन बातको नहीं अनुभव करते हैं इसीसे संसारमें भ्रमते हैं।

भावार्थ—आप आत्मा ही परमात्मा ब्रह्मस्वरूप है, मोहनीयकर्मके उदयसे इसमें रागद्वेष मोह विकार होरहे हैं। यदि उनको हटा दिया जावे तो भावोंमें वीतरागता झलक जावे। वीतरागता वह निर्मलता है जिससे परब्रह्मका दर्शन होता है जैसे पवनके क्षोभसे रहित निर्मल समुद्रके जलमें पड़ा हुआ पदार्थ दिखता है, इसीतरह शुद्धनिश्चय नयके द्वारा सर्व जीव मात्रको एकरूप शुद्ध देखना चाहिये। इसी अभ्याससे रागद्वेष मिटेंगे व वीतरागता बढ़ेगी तब आत्मध्यान सहजमें सिद्ध होगा और वह सर्व कर्म काटकर परमात्मा होजायगा।

तथानुष्ठेयमेतद्धि पंडितेन हितैषिणा।
यथा न विक्रियां याति मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि॥१६५॥

अन्वयार्थ—(हितैषिणा पंडितेन) आत्महित वांछक पंडितका कर्तव्य है कि (विपत्स्वपि) विपत्तियोंके पड़नेपर भी (यथा मनः अत्यर्थं विक्रियां न याति) जिसतरह मनमें अतिशय करके विकार न पैदा हो (तथा एतत् हि अनुष्ठेयम्) इसतरह ऐसा ही आचरण करना चाहिये।

भावार्थ—भेदविज्ञानी विवेकी आत्महितैषी विद्वान्‌को उचित है कि वह अपने मनका ऐसा साधन करे कि उसमें राग द्वेषका विकार पैदा न हो। शत्रु मित्र, सुख दुःख, निन्दा प्रशंसामें समभाव रखे। यदि उपसर्ग पड़े, संकट आजावे, अपने प्राणोंका घात भी होता हो तौ भी मनमें क्रोध या द्वेषभाव पैदा न हो। सर्व अच्छी या बुरी अवस्थाओंका कारण अपना ही बांधा हुआ पुण्य व पापकर्मका उदय है, अन्य मात्र निमित्त कारण हैं, ऐसा जानकर सर्व अवस्थाओंमें समभाव रखना चाहिये। जितनी २ सहनशीलता बढ़ती जायगी इतना २ मन दृढ़ व क्षमाशील बनता जायगा। शुद्धात्माके मननका अभ्यास प्राणीको क्षमावान बनाता है। मोक्षमार्गी साधु ऐसी ही उत्तम क्षमा पालते हैं।

धन्यास्ते मानवा लोके ये च प्राप्यापदां पराम्।
विकृतिं नैव गच्छन्ति यतस्ते साधुमानसाः॥ १६६॥

अन्वयार्थ—(ये च) जो कोई (परां आपदां प्राप्य) कठिन भारी आपत्तिको पा करके (विकृतिं नैव गच्छन्ति) अपने भावोंमें

समताके प्रतापसे विकार नहीं लाते हैं। (ते मानवा लोके धन्याः) वे मानव इस लोकमें धन्य हैं (यतः ते साधुमानसाः) इसका कारण यही है कि उनका मन साधुवृत्तिमें आगया है।

भावार्थ–मनको साधनेसे, वारवार वीतरागताका अनुभव करनेसे वही आदत पड़ जाती है जिससे मन क्षमाशील बना रहे। वास्तवमें वे संत पुरुष धन्यवादके योग्य हैं, परम प्रशंसनीय हैं जो तीव्र संकटोंके पड़ने पर भी कर्मोदय विचारकर समभाव रखते हैं। मोक्षार्थीको प्रयत्न करके भाव अहिंसाका भले प्रकार अभ्यास करना योग्य है।

संक्लेशो न हि कर्तव्यः संक्लेशो बन्धकारणं।
शंक्लेशपरिणामेन जीवो दुःखस्य भाजनम् ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थ–(संक्लेशः न हि कर्तव्यः) संक्लेश भाव नहीं करना चाहिये (संक्लेशः बन्धकारणं) संक्लेश भाव कर्मबंधका कारण है (संक्लेशपरिणामेन) संक्लेश भावमें (जीवः) यह जीव (दुःखस्य भाजनम्) दुःखोंका पात्र होता है।

भावार्थ–दुःखित परिणाम या आर्तध्यान करना उचित नहीं है। इन भावोंसे कुछ लाभ नहीं होता है। वर्तमानमें मानसिक दुःख होता है। शरीरका रुधिर सूखनेसे शरीर निर्बल होता है। लौकिक कार्योंमें उपयोग नहीं लगता है। असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियोंका बन्ध होता है, जिससे परलोकमें भी दुःखोंको भोगना पड़ेगा। दुःखोंके कारणोंके होनेपर अपने ही किये हुए पापकर्मोंको याद करना चाहिये। जिनके उदयसे दुःख हुआ है उस दुःखको संतोषपूर्वक

भोग लेना चाहिये, तब पिछला कर्म झड़ जायगा व नवीन बन्ध न होगा या अति अल्प होगा।

> संक्लेशपरिणामेन जीवः प्राप्नोति भूरिशः ।
> सुमहत् कर्मसम्बन्धं भवकोटिषु दुःखदम् ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थ—(संक्लेशपरिणामेन) संक्लेशभावसे (जीवः) यह जीव (भवकोटिषु दुःखदम्) करोड़ों जन्मोंमें दुःख देनेवाला (सुमहत् कर्मसम्बन्धं) बहुत अधिक कर्मके बन्धको (भूरिशः) बहुत वार (प्राप्नोति) करता है।

भावार्थ—जब परिणाम दुःखित होते हैं तब वह अशुभभाव उस समय तीव्र कर्मका बन्ध कर देते हैं, उन कर्मोंके उदयसे जब फिर दुःख होता है तब फिर संक्लेशभाव करता है फिर भी तीव्र कर्मबन्ध करता है। इसतरह कर्मबन्धकी शृंखला व दुःख भोगनेकी शृंखला करोड़ों जन्मोंतक चली जाती है। विना सम्यग्दर्शनके लाभके इन भावोंका छूटना कठिन है। मिथ्यादृष्टी विषयातुर होता हुआ अधिकतर संक्लेशभाव करता रहता है। उसके परिणाम अशुभ रहते हैं। जब वह कदाचित कोई पुण्यका काम भी करता है तब भी उसकी भावना निदान आर्तध्यानकी रहती है। जीवोंके तीन प्रकारके भाव होते हैं संक्लेशभाव, विशुद्धभाव व शुद्धभाव। संक्लेशभावोंको अशुभभाव कहते हैं जिससे पापका बन्ध होता है। विशुद्धभावको शुभ भाव कहते हैं जिससे पुण्यबन्ध होता है। शुद्ध भाव कर्मोंका नाशक हैं। ज्ञानी जीवको संक्लेशभावोंसे अपनेको बचाना चाहिये।

चित्तरत्नमसंक्लिष्टं महतामुत्तमं धनम्।
येन सम्प्राप्यते स्थानं जरामरणवर्जितम् ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थ—(असंक्लिष्टं चित्तरत्नं) संक्लेशरहित शांतचित्त (महतां उत्तमं धनं) महान पुरुषोंका उत्तम धन है (येन) जिसके द्वारा (जरामरणवर्जितम् स्थानं) जरा मरणसे रहित स्थान (सम्प्राप्यते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिन महान पुरुषोंने संक्लेश भावको त्यागकर शांत भाव रखनेका अभ्यास किया है, जो दुःखमें व सुखमें समताभाव रखते हैं उनको कर्मोंकी निर्जरा अधिक होती है व नवीन कर्मबंध बहुत थोड़ा होता है जिसका फल यह होता है कि वह सर्व कर्मबंधसे छूटकर जन्मजरामरण रहित अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त कर लेते हैं। समताभाव वर्तमानमें भी सुख देता है व उससे आगामी भी सुख होता है।

सम्पत्तौ विस्मिता नैव विपत्तौ नैव दुःखिताः।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ॥ १७० ॥

अन्वयार्थ—(एतत् हि) यह ही (महतां लक्षणं) महान पुरुषोंका लक्षण है कि वे (सम्पत्तौ) धनसम्पदा होनेपर (विस्मिता नैव) कभी भी घमंड नहीं करते हैं (विपत्तौ) व आपत्ति संकट पडनेपर (नैव दुःखिताः) कभी दुःखित नहीं होते हैं (द्रव्यसमागमः न तु) केवल धनका लाभ महान पुरुषोंका लक्षण नहीं है।

भावार्थ—बड़े आदमी उनको नहीं कहना चाहिये जो मात्र धनके स्वामी हैं। वे ही जगतमें सज्जनी व महान प्राणी हैं जिनका

आत्मा उदार है, जो संपत्ति व विपत्तिमें समभाव रखते हैं, धनादि परिग्रहकी वृद्धि होनेपर न तो वे घमंड करते हैं, न कोई आश्चर्य करते हैं। ये धनादि पुण्य कर्मरूपी वृक्षके फल हैं। पुण्य कर्मका उदय सदा एकसा नहीं रहता है। धनादिका समागम क्षणिक है। इसीतरह यदि तीव्र दुःख आजाते हैं तब आकुलित नहीं होते हैं। तब भी यह ही विचार करते हैं कि यह पापकर्मोंका उदय है। जिन पापकर्मोंको मैंने बांधा था, अपनी करणीका फल मुझे सम-भावसे भोग लेना चाहिये। तथा ये पाप व इनका उदय भी क्षणिक है- सदा रहनेवाला नहीं है। संक्लेशभाव करने पर भी दुःखोंसे छुट-कारा नहीं होगा। ऐसा जानकर महान् पुरुष सम्पति व विपत्तिमें समभाव या शांतभाव रखते हैं। जिससे वे इस लोकमें भी सुखी रहते हैं व परलोकमें भी सुखके भाजन होते हैं, उनको पुण्य कर्मका बन्ध होता है। वे ही महान पुरुष हैं जो समभाव या शांतभावके स्वामी हैं। मात्र धनवान लोग महान नहीं कहे जासक्ते हैं।

आपत्सु सम्पतन्तीषु पूर्वकर्मनियोगतः।
शौर्यमेव परं त्राणं न युक्तमनुशोचनम् ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थ-(पूर्वकर्मनियोगतः) पूर्वकर्मोंके उदयसे (आपत्सु सम्पतन्तीषु) आपत्तियोंके आजानेपर (शौर्यं एव परं त्राणं) दृढ़ता ही परमरक्षक है (अनुशोचनम् युक्तम्) वारवार शोच करना उचित नहीं है।

भावार्थ- जैसे मेरुपर्वत प्रलयकालकी पवन चलनेपर भी अपनी दृढ़ताको नहीं त्यागता है, दृढ़ रहनेसे उन पवनके आक्रमणोंको जीत लेता है, वैसे ही महान पुरुष अपने ही बांधे हुए पापकर्मके

उदयसे प्राप्त आपत्तियोंके पड़नेपर अपने मनको दृढ़ व साहसी व वीर भावयुक्त रखते हैं, जिससे वे संकटोंको वीरतासे सह लेते हैं। वे वारवार शोच करके दुःखित परिणाम नहीं करते हैं। यह क्षमाभाव या सहनशीलभाव उनके जीवनको साहसी बनाता है।

विशुद्धपरिणामेन शान्तिर्भवति सर्वतः।
संक्लिष्टेन तु चित्तेन नास्ति शान्तिर्भवेष्वपि ॥१७२॥

अन्वयार्थ-(विशुद्धपरिणामेन) निर्मल भावोंसे (सर्वतः शान्तिः भवति) सर्व तरफसे शान्ति रहती है संक्लिष्टेन तु चित्तेन) परन्तु संक्लेश परिणामोंसे (भवेषु अपि) भवभवमें भी (शान्तिः नास्ति) शान्ति नहीं मिल सक्ती है।

भावार्थ-निर्मल भावोंसे यहां भी शांति रहती है व परलोकमें भी शांति मिलती है, क्योंकि साताकारी कर्मोंके बन्धका साताकारी फल मिलता है परन्तु अशुभ परिणामोंसे यहां भी भावोंमें संक्लेश-भाव रहता है तथा उन भावोंसे पापकर्मोंका बन्ध होता है जिसके फलसे भविष्यके भवोंमें भी दुःख प्राप्त होता है, ऐसा जानकर शांतभावमें सदा रहना योग्य है।

संक्लिष्टचेतसां पुंसां बुद्धिः संसारवर्द्धिनी।
विशुद्धचेतसां वृत्तिः सम्यक्तवित्तदायिनी ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थ-(संक्लिष्टचेतसां पुंसां) संक्लेशपरिणामधारी पुरुषोंकी (बुद्धिः) बुद्धि (संसारवर्द्धिनी) संसारको बढ़ानेवाली होती है (विशुद्धचेतसां वृत्तिः) परन्तु निर्मल भाव धारी पुरुषोंका वर्तन (सम्यक्तवित्तदायिनी) सम्यग्दर्शनरूपी धनको देनेवाला होता है।

भावार्थ—जिनके परिणामोंमें संसारके पदार्थोंकी तृष्णाके वश रातदिन अशुभ संक्लेश भाव रहते हैं उनके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायोंका निरन्तर बंध पड़ता है। वे निगोद पर्यायमें चले जाते हैं। वहां अनंत कालतक जन्म मरण करते हैं। परन्तु जिनके परिणाम शुभ हैं, शांत हैं वे तत्वोंका मनन करते हैं। उनको निज आत्माका श्रद्धान होना बहुत संभव है। सम्यग्दर्शनके लाभके समान जगतमें कोई धन नहीं है। शांत चित्तवालोंको ऐसे अपूर्व धनकी प्राप्ति होती है। वे इस धनके प्रतापसे मुक्ति-सुन्दरीको वश कर लेते हैं।

यदा चित्तविशुद्धिः स्यादापदः सम्पदस्तथा।
समस्तत्वविदां पुंसां सर्वं हि महतां महत् ॥ १७४ ॥

अन्वयार्थ–(यदा चित्तविशुद्धिः) जब मनमें विशुद्धता रहती है तब (तत्वविदां पुंसां) तत्वज्ञानी पुरुषोंके चित्तमें (आपदः तथा सम्पदः समः) आपत्तिमें व सम्पदाओंमें समान भाव रहता है (महतां सर्वं हि महत्) महान पुरुषोंकी सर्व चेष्टा महान होती है।

भावार्थ—जो वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विचारनेवाले ज्ञानी जीव हैं वे अपने चित्तको सदा निर्मल रखते हैं। विषयोंकी तृष्णासे व उन विषयोंके वियोगसे अपने भावोंको मैला नहीं रखते हैं। वे तत्वज्ञानी आत्मसुखके प्रेमी होते हैं। अपने बांधे हुए कर्मोंके उदयसे जब आपत्तियें आजाती हैं या सम्पतियें होजाती हैं तब दोनों दशाओंमें समभाव रखते हैं। वे जानते हैं कि सर्व पुण्यपापका खेल है, दोनों ही नाशवंत हैं। इनके संयोगमें हर्ष-विषाद करना व्यर्थ है।

महात्मा सम्यग्दृष्टी जीव जगतमें ज्ञाताद्रष्टा बने रहते हैं। दुःख पड़नेपर दुःखी व सुख पड़नेपर उन्मत्त नहीं होते हैं।

परोऽप्युत्पथमापन्नो निषेद्धुं युक्त एव सः।
किं पुनः स्वमनोऽत्यर्थं विषयोत्पथयायिवत्॥ १७५॥

अन्वयार्थ—(परः उत्पथं आपन्नः अपि) दूसरा कोई कुमार्गगामी होगया है तौ भी (स एव निषेद्धुं युक्त) उसे मना ही करना चाहिये यह तो ठीक ही है परन्तु (विषयोत्पथयायिवत्) विषयोंके कुमार्गमें जानेवाले (स्वमनः) अपने मनको (अत्यर्थं) अतिशयरूप (किं पुनः) क्यों नहीं रोकना चाहिये।

भावार्थ—जो मानव दूसरोंको कुमार्गसे हटकर सुमार्गपर चलनेका उपदेश देते हैं परन्तु अपने मनको विषयोंसे नहीं रोकते हैं उनके लिये आचार्य कहते हैं कि भाई, जैसे दूसरोंको कुमार्गसे रोकना उचित है वैसे अपने मनको भी तो विषयोंसे रोकना चाहिये। दूसरे हमारे उपदेशसे सुमार्ग पर आजावेंगे व कुमार्गसे बचेंगे इसका कोई निश्चय नहीं है। उपदेश दाताका उपदेश दूसरे पर असर करेगा तब ही वह मान सकेगा परन्तु अपना मन तो अपने आधीन है। जब हम भलेप्रकार अपने मनको समझावेंगे तो हम अपने मनको कुमार्ग पर जानेसे रोक सकेंगे। इसलिये हमें अपने आपको विषयोंके मार्गसे अवश्य बचाना चाहिये।

अज्ञानाद्यदि मोहाद्यत्कृतं कर्म सुकुत्सितम्।
व्यावर्तयेन्मनस्तस्मात् पुनस्तन्न समाचरेत्॥ १७६॥

अन्वयार्थ—(यदि) यदि (अज्ञानात् मोहात्) अज्ञानके

वशीभूत होकर या मोहके आधीन होकर (यत् सुकुत्सितम् कर्म कृतं) जो कोई अशुभ काम किया गया हो (तस्मात् मनः व्यावर्तयेत्) उससे मनको हटा लेवें (पुनः) फिर (तत् न) उस कामको नहीं (समाचरेत्) करे।

भावार्थ—बहुधा अशुभ काम या तो अज्ञानसे, विना समझे होजाते हैं या जाननेपर भी मोहके प्रभावसे—कषायके तीव्र उदयसे होजाते हैं। उससमय ज्ञानीको विचार करके अपने मनको रोकना चाहिये। मनको इसतरह संयम साधनमें लगा देना चाहिये कि मनमें उस कामसे ग्लानि होजावे। और फिर दुवारा मन उस खराब कार्यकी तरफ नहीं प्रवर्तें। आत्मबल जो अंतराय कर्मके क्षयोपशमसे प्राप्त होता है सो हरएक मानवके पास मौजूद है। उस आत्मबलसे अशुभ मार्गमें जानेकी इच्छाओंको रोकना चाहिये व आत्महित आपसे हो उसमार्गमें जोड़नेका अभ्यास करना चाहिये।

अचिरेणैव कालेन फलं प्राप्स्यसि दुर्मते।
विपाकेऽतीव तिक्तस्य कर्मणो यत्त्वया कृतम् ॥ १७७ ॥

अन्वयार्थ—(दुर्मते) हे दुर्बुद्धि! (त्वया यत् कृतम्) तूने जो कर्म किये हैं (अतीव तिक्तस्य कर्मणः) उन अत्यन्त बुरे कर्मोंके (विपाके) पकने पर (अचिरेण एव कालेन) थोड़ेसे ही कालमें तु (फलं प्राप्स्यसि) फल पालेगा।

भावार्थ—कुबुद्धि जीव पाप कर्मोंको करते हुए भविष्यमें उनका फल बड़ा कटुक होगा, इस बातका विचार नहीं करता है। मोहमें अंधा होकर हिंसा असत्य आदि पाप कर्म कर लेता है, उससमय

असाता वेदनीय आदि पाप कर्मोंमें तीव्र अनुभाग पड़ जाता है। उनका कुछ काल पीछे जब फल प्रगट होता है तब प्राणीको असहनीय दुःखोंकी प्राप्ति होती है। ऐसा विचार कर बुद्धिमानको कभी ऐसे काम नहीं करने चाहिये जिनसे अशुभ कर्मोंका बंध होवै।

वर्धमानं हि तत्कर्म संज्ञानाद्यो न शोधयेत्।
सुप्रभूतभूतसंग्रस्तः स पश्चात् परितप्यते ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (तत् हि वर्धमानं कर्म) इस बढ़ते हुए पापकर्मको (संज्ञानात्) सम्यग्ज्ञानके द्वारा (न शोधयेत्) दूर नहीं करता है (सः) वह (सुप्रभूतभूतसंग्रस्तः) अति तीव्र कर्मरूपी भूतसे पकड़ा हुआ (पश्चात्) पीछे (परितप्यते) पछताता है।

भावार्थ—यदि अज्ञान या मोहके वशीभूत होकर अपनेसे पापकर्म होजावे तो उसकी शुद्धि सम्यग्ज्ञानके द्वारा धर्माचरण करके करनी चाहिये। जो कोई धर्मकी ओर लक्ष्य नहीं देता है और पापकर्मको बढ़ाता ही रहता है, उसका बांधा हुआ तीव्र पापकर्म जब उदयमें आता है तब प्राणीको बहुत कष्ट होता है। तब उसके मनमें पश्चाताप भी होता है।

सुखभावकृता मूढाः किं न कुर्वन्ति मानवाः।
येन सन्तापमायान्ति जन्मकोटिशतेष्वपि ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थ—(सुखभावकृताः मूढाः मानवाः) सुख पानेके भावसे प्रेरित होकर मूर्ख मनुष्य (किं न कुर्वन्ति) क्या क्या पाप नहीं कर डालते हैं (येन) जिस पापसे (जन्मकोटिशतेषु अपि) करोड़ों जन्मोंमें भी (सन्तापं आयान्ति) दुःखको पाते हैं।

भावार्थ-इन्द्रियोंके सुखोंकी अतितृष्णाके वश प्राणी हिंसादि पापोंको व जूआ खेलना, मांसाहार, मद्यपान, चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री सेवन आदि पापको बेखटके कर डालता है। और भी बड़े २ पाप कर डालता है गांवमें आग लगा देता है, अनाथोंका व विधवाओंका धन हजम कर जाता है, देव द्रव्यको चुरा लेता है, यज्ञके नामसे व देवी देवताओंके नामसे घोर प्राणी हिंसा कर लेता है, झूठे सिक्के चला देता है, आदि, इन पापोंसे दीर्घ स्थिति पड़नेवाले व तीव्र अनुभागवाले कर्मोंको बांध लेता है, उनका उदय करोड़ो जन्मोंमें नरक तिर्यंचादि गतियोंमें जब मिलता है तब प्राणीको घोर कष्ट होता है।

परं च वंचयामीति यो हि मायां प्रयुज्यते।
इहामुत्र च लोके वै तैरात्मा वंचितः सदा ॥१८०॥

अन्वयार्थ-(परं च वंचयामि) दूसरेको ठग लूंगा ऐसा विचार कर (यः हि) जो कोई (मायां) मायाचार (प्रयुज्यते)का उपाय करते हैं (तैः) उन लोगोंने (लोके च इह अमुत्र) इसलोक और परलोक दोनोंमें (सदा) सदा ही (आत्मा वंचितः) अपने आपको ठगा है।

भावार्थ-जो कोई सांसारीक पदार्थोंकी इच्छा करके दूसरोंके द्रव्यादिको धोखा देकर लेनेके लिये मायाचार करते हैं, अनेक प्रकारके प्रपंचोंसे दूसरोंको ठगते हैं वे अपने आत्माको ठगते हैं। वे यहां भी मलीन भावोंसे आकुलित रहते हैं। दूसरोंको ठगनेके भावसे उनमें हिंसात्मक भाव रहता है। तथा उनका मायाचार जब प्रगट हो जाता है तब वे अविश्वास व निन्दाके पात्र होते हैं। और तीव्र

पाप बांधकर नर्क व तिर्यंचगति बांधकर कुगतिमें पड़कर दुःख उठाते हैं। भव भव उनका बिगड़ जाता है। वे अपने आत्माका महान बुरा करते हैं।

पंचतासन्नतां प्राप्तं न कृतं सुकृतार्जनं।
स मानुषेऽपि संप्राप्ते हा! गतं जन्म निष्फलम् ॥१८१॥

अनवयार्थ–(पंचतासन्नतां प्राप्तं) मरणके निकट होने तक जो (सुकृतार्जनं न कृतं) पुण्यका लाभ नहीं करता है (सः) वह (मानुषे अपि संप्राप्ते) मानव जन्म सरीखे जन्मको पाकरके भी (जन्म निष्फलम् गतं) अपना जन्म बेकार खो देता है (हा) यह बडे खेदकी बात है।

भावार्थ–बहुतसे मनुष्य अपना सारा जन्म धर्मसेवनके विना व पुण्यकर्मोंको बांधे विना वृथा खोदेते हैं। यह मानव जन्म सब जन्मोंमें उत्तम है। इस जन्मसे आत्माको मोक्षतकका लाभ कराया जासक्ता है तथा बहुतसा धर्म व परोपकारका काम किया जासक्ता है। ऐसा मानव जन्म एक दफे यदि वृथा खोदिया जावे तो फिर इसका मिलना अत्यंत दुर्लभ है। अपूर्व अवसर खोदेना बड़ी भारी मूर्खता है।

कर्मपाशविमोक्षाय यत्नं यस्य न देहिनः।
संसारे च महागुप्तौ बद्धः संतिष्ठते सदा ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थ–(यस्य देहिनः) जिस प्राणीका (यत्नं) उपाय (कर्मपाशविमोक्षाय न) कर्मके जालसे छूटनेका नहीं है। (महागुप्तौ संसारे च) इस महान गंभीर कैदके समान संसारमें वह (सदा बद्धः) सदा बंधा हुआ (संतिष्ठते) रहेगा।

भावार्थ–यह संसार अनादि कालसे चला आरहा है । पुण्य तथा पापकर्मोका बंध सदा ही इस जीवके होता रहता है; क्योंकि इसके परिणामोंमें राग द्वेष मोह सदा पाया जाता है । जबतक कोई भव्यजीव कर्मोंके जालको काटनेका उपाय नहीं करेगा तबतक यह कभी बंध रहित नहीं होसक्ता है। बंधनसे छूटनेका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय धर्मसेवन है । इस धर्मके सेवनसे वीतराग भाव प्रगट होता है । इस वीतराग भावसे पूर्वबद्ध कर्म निर्बल होजाते हैं। कितने कर्म तो गिर पड़ते हैं । ऐसा साधक अवश्य एक दिन कठिन कर्मोंसे मुक्त हो जायगा, परन्तु जो धर्म-साधनसे उंदासीन है वह कभी भी इस भयानक संसारकी जेलसे नहीं निकल सक्ता है ।

गृहाचारकुवासेऽस्मिन् विषयामिषलोभिनः ।
सीदंति नरशार्दूला बद्धा बान्धवबन्धनैः ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थ–(अस्मिन् गृहाचारकुवासे) इस गृहस्थने खोटे वासमें रहते हुए (विषयामिषलोभिनः) पांच इन्द्रियोंके विषयरूपी मांसके लोभी (नरशार्दूलाः) नरसिंह होनेपर भी (बान्धवबन्धनैः) बन्धुजनों व परिवारके स्नेह द्वारा (बद्धाः) बंधे हुए (सीदंति) दुःख उठाते रहते हैं ।

भावार्थ–महान पराक्रमी पुरुष भी जो इन्द्रियोंके विषयोंके लोलुपी होते हैं वे गृहस्थवासमें रहते हुए रातदिन विषयोंके भोगमें लगे रहते हैं। इच्छित भोगोंके न पाने पर घबड़ाते हैं। इच्छित भोगोंके वियोगपर दुःखी होते हैं। शरीरमें रोगादि होनेपर दुःखी होते

हैं। धनकी आशामें कष्ट पाते हैं। जितना२ विषय भोग किया जाता है उतना२ तृष्णाका दाह बढ़ता जाता है। दाहसे जलते हुए कष्टमें जीवन विताते हैं। फिर तीव्र रागद्वेषके कारण अशुभ कर्म बांधकर दुर्गतिमें जाकर कष्ट पाते हैं। वास्तवमें वे ही सुखी होते हैं जो विषयरूपी मांसके त्यागी हैं और अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृतके प्रेमी हैं। गृहस्थीमें स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बंधुओंके स्नेहमें रातदिन संकल्प विकल्पोंसे प्राणी आकुलित रहते हैं।

गर्भवासेऽपि यद्दुःखं प्राप्तमत्रैव जन्मनि।
अधुना विस्मृतं केन येनात्मानं न बुध्यसे ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थ-(अत्रैव जन्मनि) इस ही जन्ममें (गर्भवासे अपि) गर्भके भीतर रहते हुए भी (यत् दुःखं प्राप्तं) जो दुःख तूने उठाए हैं (अधुना केन विस्मृतं) अब तू क्यों उनको भूलगया है (येन) जिससे (आत्मानं न बुध्यसे) तू अपने आत्माको नहीं पहचानता है।

भावार्थ-इस ही जन्मके दुःखोंको जो इसने नौ मास गर्भमें रहकर उठाए हैं, यदि स्मरण किया जावे तो प्राणीको जन्मसे घृणा होजावे। गर्भमें प्राणीको उल्टे टंगे रहकर महान मलीन स्थानमें दिन पूरे करने पड़ते हैं। माताके जुठे रससे शरीर बढ़ता है। फिर बड़े कष्टसे गर्भसे निकलता है। गर्भवास नर्कवासके समान दुःखप्रद है। यह प्राणी पीछे गृहस्थके मोहमें पड़कर उस गर्भके दुःखको भूले हुए रहता है। यदि कोई स्मरण करे तो इसके ये भाव होने चाहिये कि मुझे इस जन्म मरणसे अपनेको बचाना चाहिये। अतएव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त

करना चाहिये जिससे आत्मीक धर्मका लाभ हो; क्योंकि आत्मीक धर्म ही वह छेनी है जो कर्मकी वेड़ियोंको काट देती है ।

चतुरशीतिलक्षेषु योनीनां भ्रमता त्वया ।
प्राप्तानि दुःखशल्यानि नानाकाराणि मोहिना ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थ-(त्वया) तूने (योनीनां चतुरशीतिलक्षेषु) चौरासी लाख योनियोंमें (भ्रमता) भ्रमण करते हुए (मोहिना) मोही होनेके कारण (नानाकाराणि दुःखशल्यानि) नाना प्रकारके दुःखरूपी कांटोंको (प्राप्तानि) पाया है ।

भावार्थ-एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यंतकी सर्व उत्पत्तिके स्थानोंकी जातियोंकी संख्या ८४ लाख है । शरीरादिके मोहके कारण यह जीव कर्म बांधकर पापपुण्यके अनुसार अच्छी या बुरी योनिमें जन्म लेता फिरा है। वहां जो दुःख उठाए हैं वे कथनमें नहीं आसक्ते हैं । हरएक जन्ममें तृष्णाका रोग तो होता ही रहा । इष्ट वियोग तो हुआ ही । अनिष्ट संयोग भी हुआ ही । जन्म मरणका दुःख तो हुआ ही । इस जीवने अपने आत्माको न जानकर व सम्यग्दर्शनको न पाकर संसारमें महान दुःख उठाए हैं । वे ८४ लाख योनि इस प्रकार हैं-नित्य निगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, पृथ्वीकायिक ७ लाख, जलकायिक ७ लाख, अग्निकायिक ७ लाख, वायुकायिक ७ लाख, प्रत्येक वनस्पति १० लाख, द्वीन्द्रिय २ लाख, तीन्द्रिय २ लाख, चतुरिन्द्रिय २ लाख, देव ४ लाख, नारकी ४ लाख, पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच ४ लाख, मनुष्य १४ लाख, कुल ८४ लाख ।

कथं नोद्विजसे मूढ ! दुःखात संसृतिसंभवात।
येन त्वं विषयासक्तो लोभेनास्मिन् वशीकृतः ॥१८६॥

अन्वयार्थ-(मूढ) हे मूर्ख प्राणी! (संसृतिसंभवात् दुःखात) संसारके भीतर होनेवाले दुःखोंसे (कथं न उद्विजसे) तुझे वैराग्य क्यों नहीं आता है (येन) जिससे (त्वं) तू (अस्मिन्) इस संसारमें (विषयासक्तः) विषयोंके भीतर फंसा हुआ (लोमेन वशीकृतः) लोभ द्वारा जीत लिया गया है।

भावार्थ-यह अंध प्राणी विषयोंकी आसक्तिके भीतर इतना फंसा हुआ है कि वह रातदिन पांचों इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थोंका लोभ रखता हुआ उनकी चाहकी दाहमें जला करता है। वारवार संसारमें नाना प्रकारके कष्ट भी पाता है तो भी विषयानुरागको नहीं छोड़ता है। उसकी बुद्धि ऐसी मंद होगई है कि यह सच्चे सुखको जो अपने ही आत्माके पास है और जो परमशांतिदाता है उसकी तरफ दृष्टिपात ही नहीं करता है, भवसागरमें गोते लगाता हुआ तड़फता है, परन्तु भवसमुद्रसे तारनेवाली धर्मरूपी नौकाको नहीं ग्रहण करता है। बड़े आश्चर्यकी बात है।

चारित्रकी आवश्यक्ता।

यत्त्वयोपार्जितं कर्म भवकोटिषु पुष्कलं।

तच्छेत्तुं चेन्न शक्तोऽसि गतं ते जन्म निष्फलम् ॥१८७॥

अन्वयार्थ—(त्वया) तूने (भवकोटिषु) करोंडो भवोंमें (यत्) जो (पुष्कलं) बहुत (कर्म उपार्जितं) कर्म बांधे हैं। (तत् छेत्तुं) उनके नाश करनेके लिये (चेत् न शक्तः असि) यदि तू सामर्थ्य न प्रगट करेगा (ते जन्म निष्कलं गतं) तो तेरा जन्म निष्फल ही बीत गया ऐसा समझा जायगा।

भावार्थ—मानव जन्म और जैन तत्वका ज्ञान प्राप्त कर यदि तू संसारके जन्मोंमें दुःख देनेवाले कर्मोंको नाश करनेका उद्यम न करेगा और प्रमादसे अपने जीवनके अमूल्य समयको विषयभोगोंमें व मोहके प्रपंचमें विता देगा तौ फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है, जब ऐसा संयम व तप व ध्यान कर सके जिससे कर्मोंका क्षय होसके। देव व नारकी संयम पाल नहीं सक्ते, पशुगतिमें मात्र श्रावकके व्रत हैं। साधुके चारित्र पालनका हेतु एक मानव देह है। अतएव प्रमादी न होकर पुरुषार्थ करके भव भवके बांधे कर्मोंके नाशके लिये सम्यग्दर्शन सहित चारित्रको आराधन कर जिससे तू वर्तमानमें भी सुखी रहे और भविष्यमें भी आत्महित कर सके।

अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः।

तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यन्तर्मुहूर्त्ततः ॥१८८॥

अन्वयार्थ—(अज्ञानी) मिथ्यात्वसहित ज्ञानधारी आत्मा (यत् कर्म) जितने कर्मोंको (जन्मशतकोटिभि.) करोड़ों जन्मोंके

द्वारा (क्षिपयेत्) नाश करेगा (तत्) उतने कर्मोंको (ज्ञानी तु) सम्यग्ज्ञानी तो (त्रिगुप्तात्मा) मन वचन कायकी गुप्तिमें ठहरकर (अंतर्मुहूर्ततः) एक अंतर्मुहूर्तमें (निहन्ति) नाश कर डालेगा।

भावार्थ–जिसको आत्मतत्वका ज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी सविपाक निर्जरासे अपने समयपर उदय होकर खिरनेवाले कर्मोंको करोड़ों भवोंमें जो खिराएगा, फल भोग २ करके दूर करेगा, उतने कर्मोंकी वर्गणाओंको सम्यग्ज्ञानी अपने आत्मज्ञान, आत्म प्रतीति व वैराग्यभावकी शक्तिसे मन, वचन, कायको रोक कर ध्यानमें तन्मय होनेपर एक अंतर्मुहर्तमें क्षय कर डालेगा ४८ मिनिटके भीतरको अंतर्मुहूर्त कहते हैं। इतनी देर यदि किसी महात्माको धारावाही लगातार आत्मध्यानमें एकाग्रता होजावे तो इसकी ध्यानकी अग्निके प्रतापसे भव भवके बांधे कर्म भस्म हो जायंगे व केवलज्ञान प्रगट हो जायगा। सम्यक्त सहित आत्मानुभव ही सम्यक्चारित्र है जो मोक्षका लाभ कराता है।

जीवितेनापि किं तेन कृता न निर्जरा तदा।
कर्मणां संवरो वापि संसारासारकारिणाम् ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थ–(तेन जीवितेन अपि किं) उस मानवने जी करके भी क्या किया जिसने (तदा) इस मानव जन्मके अवसर पर (संसारासारकारिणाम् कर्मणां) इस असार संसारमें भ्रमण करानेवाले कर्मोंका (संवरः वा अपि निर्जरा न कृता) संवर नहीं किया और न निर्जरा की।

भावार्थ–मानव जीवनकी सफलता आत्माकी शुद्धिसे होती है। यह आत्मा कर्मोंकी संगतिसे दुःखी है व जन्म मरण उठा रहा है।

इन दुःखोंके देनेवाले अपने बांधे हुए कर्म हैं। कर्मोंके क्षयका उपाय यह मानव जन्म है। बुद्धिमानको उचित है कि नये कर्मोंका संवर करे और पुराने बंध प्राप्त कर्मोंकी निर्जरा करे जिससे आत्मा शुद्ध होजावे। संवर व निर्जराका कारण चारित्रका व तपका आराधन है अतएव साधुके पांच अहिंसादि व्रतोंको, ५ समितियोंको, तीन गुप्तियोंको, उत्तमक्षमादि दश धर्मोंको, १२ भावनाओंको, २२ परीषहोंके जयको, सामायिकादि चारित्रको व अनशनादि बारह प्रकारके तपको भले प्रकार पालना चाहिये। आत्मध्यानका विशेष अभ्यास करना चाहिये। इस समयको वृथा न खोना चाहिये।

स जातो येन जातेन स्वकृताऽपक्वयाचना।
कर्मणां पाकघोराणां विबुधेन महात्मनाम् ॥ १९० ॥

अन्वयार्थ—(सःजातः) उसीका जन्म सफल है (येन विबुधेन जातेन) जिस बुद्धिमानने जन्म लेकर (महात्मनां पाक घोराणां कर्मणां अपक्व याचना स्वकृता) महान कर्मोंकी, जिनका फल बहुत भयंकर है, पकनेके पहले ही स्वयं निर्जरा कर डाली हो।

भावार्थ—तपमें यह शक्ति है कि कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग घटा देता है जिससे बहुत दीर्घ काल तक उदय होनेवाले कर्म व बहुत भयानक फल देनेवाले कर्म क्षणभरमें नाश कर दिये जाते हैं। बुद्धिमान मानवका धर्म है कि इस मानव जन्मको दुर्लभ समझके इसमें ऐसा तप व आत्मध्यान करे जिससे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होजावे। जिसने ध्यान द्वारा आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया उस ही मानवने जन्म लेकर अपना सच्चा कल्याण किया।

रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च।
संगे संगं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ॥ १९१॥

अन्वयार्थ-(रोषे रोषं परं कृत्वा) क्रोधमें क्रोधको पटककर जो पर वस्तु है (माने मानं विधाय च) व मानमें मान कषाय डालकर (संगे संगं परित्यज्य) परिग्रहमें परिग्रहको छोड़कर (स्वात्माधीन-सुखं कुरु) अपने आत्माके आधीन जो अतीन्द्रिय सुख है उसका लाभ प्राप्त करें।

भावार्थ-आत्मानंदमें लीन होनेहीसे वीतरागता पैदा होती है, जिसके प्रभावसे नवीन कर्मोंका संवर होता है व पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है। यह आत्मतल्लीनता तब ही होसक्ती है जब सर्व परसे ममता हटाई जावे, बाहरी परिग्रहको त्यागकर निर्ग्रंथ पद धारण किया जावे व अंतरंग परिग्रहको भी पर जानकर त्याग दिया जावे। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों ही कषाय चारित्रमोहनीय कर्मकी प्रकृतियाँ हैं, जिनके उदयसे क्रोधादि भाव होते हैं। इन भावोंको अपने न जानकर व कषायोंका अनुभाग समझकर इनको उनही कर्मोंके भीतर पटक देना चाहिये अर्थात् अपने आत्माको कषायोंसे भिन्न अनुभव करना चाहिये। विषयकषाय शमित होनेपर ही आत्माका निश्चल ध्यान होसक्ता है। यही ध्यान स्वाधीन आत्मानंद प्रदान करता है व सर्व दुःखोंको शांत करता है।

परिग्रहे महाद्वेषो मुक्तौ च रतिरुत्तमा।
सद्ध्याने चित्तमेकाग्रं रौद्रार्ते नैव संस्थितम् ॥ १९२॥

अन्वयार्थ-(परिग्रहे) परिग्रहमें (महाद्वेषः) महान वैराग्य

(मुक्तौ च उत्तमा रतिः) मुक्तिकी प्राप्तिमें श्रेष्ठ प्रीति (सत्‌ध्याने एकाग्रं चित्तं) धर्मध्यानमें चित्तकी एकाग्रता (रौद्रार्तें नैव संस्थितम्) रौद्रध्यान और आर्तध्यानमें चित्तको न जोड़ना, ये बातें ज्ञानीको कर्तव्य हैं।

भावार्थ-कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिये और आत्माको शुद्ध करनेके लिये ज्ञानीको उचित है कि सांसारिक परिग्रहसे ममता छोड़ दे, शुद्धात्माकी प्राप्तिमें बड़ा ही उत्साह रक्खे। फिर उसके साधनके लिये अपने मनसे दुष्ट भावको करनेवाले हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी रौद्रध्यानको व इष्टवियोगज, अनिष्ट संयोगज, पीडाजनित व निदानमय आर्तध्यानको त्याग देवे और चित्तको रोक करके निज आत्माके स्वरूपमें लगाकर ध्यान करे। आत्मध्यानमें ही रत्नत्रयकी एकता होती है, वहीं स्वात्मानुभव जागृत होता है।

धर्मस्य संचये यत्नं कर्मणां च परिक्षये।
साधूनां चेष्टितं चित्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ १९२ ॥

अन्वयार्थ-(साधूनां) साधुओंका (यत्नं) उद्योग (धर्मस्य संचये) धर्मके संग्रह करनेमें तथा (कर्मणां च परिक्षये) कर्मोंके क्षय करनेमें होता है तथा (चित्तं चेष्टितं सर्वपापप्रणाशनम्) उनका चित्त ऐसे चारित्रके पालनमें होता है जिससे सर्व पापोंका नाश होजावे।

भावार्थ-आत्मशुद्धिके लिये साधुओंको उचित है कि सर्व पाप बंधकारक भावोंसे अपने मनको शुद्ध करें तथा वीतराग भावके भीतर वर्तनेका विशेष यत्न करें जिससे कर्मोंका क्षय होजावे। जब

आत्मध्यानमें मन न लगे तो शास्त्र मनन, धर्मोपदेश आदि शुभ कार्योंको करें जिससे पुण्यका संचय हो, पापका संचय न हो।

मानस्तंभं दृढं भंकृत्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहन्य च ॥ १९४ ॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्र ध्यानतत्परः।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थ-(दृढं मानस्तंभं भंकृत्वा) दृढ मनके खंभेको तोड़ करके (लोभाद्रिं च विदार्य वै) लोभरूपी पर्वतको खंडन करके (मायावल्लीं समुत्पाट्य) मायाचारकी वेलको उखाड़करके (क्रोधशत्रुं निहन्य च) तथा क्रोधरूपी शत्रुको मारकरके (ध्यानतत्परः) ध्यानमें लीन साधु (हितं यथाख्यातं चारित्रं प्राप्य) हितकारी यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके (कर्मणां क्षयं कृत्वा) कर्मोंका क्षय करके (परमं पदम् प्राप्नोति) परमपद मोक्षको पालेते हैं।

भावार्थ-मोक्षका लाभ तब ही होगा जब कर्मोंका क्षय होगा। कर्मोंका क्षय तब ही होगा जब सर्व मोहका क्षय करके यथाख्यात वीतराग चारित्रको प्राप्त किया जायगा। वीतरागचारित्रका प्रकाश तब ही होगा जब क्रोध, मान, माया, लोभ चारों ही कषायोंका क्षय किया जायगा। कषायोंसे ही कर्मोंका बन्ध होता है अतएव उनहीके नाशसे आत्माका सच्चा हित होता है। कषायोंके क्षयके लिये आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्रका या ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। ध्यानकी सहायताके लिये उपवास ऊनोदर आदि तपोंका साधन करना चाहिये।

उत्तम पात्र साधु ।

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥१९६॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ॥१९७॥

अन्वयार्थ-(संगादिरहिताः) परिग्रह व आरंभसे जो रहित हैं (धीराः) परीषहोंके सहनेमें जो धीर हैं (रागादिमलवर्जिताः) रागद्वेषादि विभाव भावरूपी मलसे जो रहित हैं (शान्ताः) शान्त स्वरूप हैं (दान्ताः) इन्द्रियोंको दमन करनेवाले हैं (तपोभूषाः) तप ही जिनका आभूषण है (मुक्तिकांक्षणतत्पराः) मोक्षप्राप्तिकी भावनामें लीन हैं (मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः) मन, वचन, काय योगोंके जीतनेमें उद्यमशील हैं (वृत्ताढ्याः) चारित्रके धारी हैं (ध्यानसम्पन्नाः) आत्मध्यानके करनेवाले हैं (करुणापराः) परम दयालु हैं (ते पात्रं) ऐसे साधु ही उत्तम पात्र हैं।

भावार्थ-उत्तम पात्र साधु ही मुक्तिका लाभ कर सक्ते हैं। उनको सर्व परिग्रह त्यागकर ममता रहित होजाना चाहिये, क्षुधा तृषादि परीषहोंको सहना चाहिये। समभावके अभ्याससे रागद्वेष भावको जीतना चाहिये। अनशनादि बारह तपका अभ्यास करना चाहिये। पांचों इन्द्रियोंको अपने वश रखना चाहिये। सदा ही मुक्तिकी तरफ ही दृष्टि रखनी चाहिये। मन वचन कायको वैराग्य रसमें प्रवर्तोना चाहिये, रागवर्द्धक क्रियाओंसे रोकना चाहिये। परम-दयालु होकर स्थावर व त्रस सर्व जंतुओंकी रक्षा करनी चाहिये।

सामायिकादि चारित्रको दोषरहित पालना चाहिये, निरन्तर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये । जो ऐसा करते हैं वे ही महात्मा उत्तम पात्र साधु हैं ।

धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विताः ।
तत्वार्थाहितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थ-(धृतिभावनया युक्ता) जो धैर्य व क्षमाकी भावनासे युक्त हैं । (शुभभावनयान्विताः) शुभ कार्योंकी भावनामें जो तत्पर हैं (तत्वार्थाहितचेतस्काः) जिनका मन तत्वोंके मननमें लगा रहता है (ते दातुः उत्तमाः पात्रं) वे साधु दातारके लिये उत्तम पात्र हैं ।

भावार्थ-उत्तम पात्र वे ही हैं जो साधु कष्टोंके पानेपर भी क्रोध न करके क्षमा व धैर्य धारण करते हैं तथा जिनके मनमें कभी अशुभ भावना नहीं होती है। वे सदा परोपकारमें ही भाव रखते हैं तथा जो निज आत्मीक तत्वोंको परसे भिन्न सदा भाते हैं ऐसे आत्मज्ञानी साधुको भक्तिपूर्वक दान करना धर्मात्मा दातारोंका दैनिक कर्तव्य है । गृहस्थोंको दान अवश्य करना चाहिये । उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम पात्र श्रावकोंको या जघन्यपात्र श्रद्धावान जैनियोंको भक्तिसे दान देना चाहिये । करुणाभावसे हरएक मानव व पशु प्राणीके कष्टको निवारण करके अपनी शक्तिका त्याग करें । दान बड़ा ही उपकारी है ।

धृतिभावनया दुःखं सत्यभावनया भवम् ।
ज्ञानभावनया कर्म नाशयंति न संशयः ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थ—ज्ञानी सम्यग्दृष्टी महात्मा (दुःखं) दुःखको या कष्टको या पीड़ाको (धृतिभावनया) धैर्य व सहनशीलताकी भावनासे, (भवम्) इस जन्म मरणको (सत्यभावनया) सत्य तत्वज्ञानकी भावनासे (कर्म) कर्मोंको (ज्ञानभावनया) आत्मज्ञानके मननसे (नाशयन्ति) नाश कर डालते हैं (निसंशयः) इसमें कोइ शंका नहीं है।

भावार्थ—पूर्व कर्मोंके उदयसे आए हुए दुःखको समतासे व धैर्यसे भोग लेना उचित है तब पुरातन कर्म जड़ जायगा व नवीन कर्मका बंध नहीं होगा। अथवा यदि होगा भी तो अति अल्प होगा। संसारका नाश कर्मोंके नाशसे होगा, कर्मोंका क्षय वीतराग भावसे होगा, वीतरागभाव सत्य जो निश्चय मोक्षमार्ग आत्मानुभवरूप है उसके अभ्याससे होगा। कर्मोंके क्षयमें मुख्य कारण सत्य आत्मज्ञानमें उपयुक्त होना है। इसलिये इस बातमें कुछ भी संशय न लाकर आत्मकल्याणार्थीको उचित है कि यथार्थ तत्वभावनासे अपने आत्माका उद्धार करे।

आग्रहो हि शमे येषां विग्रहं कर्मशत्रुभिः।
विषयेषु निरासंगास्ते पात्रं यतिसत्तमाः ॥ २०० ॥

अन्वयार्थ—(येषां) जिनका (आग्रहः शमे हि) यह आग्रह है या यह प्रतिज्ञा है कि हम शांत भावमें रहेंगे (कर्मशत्रुभिः विग्रहं) वे जो कर्मरूपी शत्रुओंसे युद्ध करते हैं (विषयेषु निरासंगाः) व जो इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं हैं किन्तु उनसे विरक्त हैं (ते यतिसत्तमाः पात्रं) वे यतियोंमें मुख्य उत्तम पात्र हैं।

भावार्थ--उत्तम पात्र साधुओंके मनमें यह दृढ़ प्रतिज्ञा होती है कि हम कभी शांत भावको नाश नहीं करेंगे, अनेक उपसर्गोंके पड़नेपर भी हम क्रोध नहीं करेंगे, क्षमाको नहीं त्यागेंगे, जो आत्माके गुणोंको ही अपना धन समझते हैं इसलिये वे सर्व इन्द्रियोंके विषयोंके पदार्थोंसे वैरागी हैं। सर्व परसे पूर्णतया असंग हैं। तथा जिन साधुओंने इस बातपर कमर कसी है कि वे कर्मरूपी शत्रुओंको अवश्य जीतकर मुक्तिका राज्य प्राप्त करेंगे ऐसे ही वीर निस्पृही वीतरागी साधु ही उत्तम पात्र होते हैं।

निःसंगिनोऽपि वृत्ताढ्या निस्नेहाः सुश्रुतिप्रियाः।
अभूषा पि तपोभूषास्ते पात्रं योगिनः सदा॥ २०१॥

अन्वयार्थ-(निःसंगिनः अपि) जो परिग्रह रहित होनेपर भी (वृत्ताढ्याः) चारित्रके धारी हैं (निःस्नेहाः) जगतके पदार्थोंसे स्नेहरहित हैं तौभी (सुश्रुतिप्रियाः) जिनवाणीके प्रेमी हैं (अभूषापि) भूषण रहित हैं तौभी (तपोभूषाः) तपरूपी आभूषणके धारी हैं (ते योगिनः) ऐसे योगी (सदा पात्रं) सदा धर्मके पात्र हैं।

भावार्थ-जैन दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं, जिन्होंने वस्त्रादि सर्व परिग्रहका त्याग कर दिया है तथापि पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार चारित्रके धनी हैं। स्त्री पुत्र कुटुम्बादिके स्नेहको छोड़ चुके हैं तौभी आत्मज्ञानकी वृद्धिके हेतु सच्चे शास्त्रोंका पठनपाठन मनन चिंतवनमें बड़ी ही प्रीति रखते हैं। यद्यपि कोई गहना उनके शरीरपर नहीं है तौभी उपवास आदि बारह तपोंके साधनसे विभूषित हैं। ऐसे ही योगी उत्तम पात्र हैं।

यैर्ममत्वं सदा त्यक्तं स्वकायेऽपि मनीषिभिः।
ते पात्रं संयतात्मानः सर्वसत्त्वहिते रताः॥ २०२॥

अन्वयार्थ-(यैः मनीषिभिः) जिन महात्माओंमें (स्वकाये अपि) अपने शरीर पर भी (ममत्वं) ममता (सदा त्यक्तं) सदाके लिये छोड दी है (संयतात्मानः) ऐसे संयमी पात्र (सर्वसत्व-हिते रताः) जो सर्व प्राणी मात्रके हितमें लवलीन हैं (ते पात्रं) वे ही पात्र हैं।

भावार्थ—निर्ग्रंथ साधु उत्तम पात्र हैं जो शरीरके रागके भी त्यागी हैं। शरीर संयमका साधक है। इसके सहारेसे तप किया जाता है इसलिये शरीरको कुछ रुखा सूखा भोजन जो मिल जावे सो देकर पालते हैं। जो ऐसे दयावान हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर वृक्षा-दिको भी कष्ट नहीं देते हैं देखकर चलते हैं, उठाते धरते हैं सर्व प्राणी मात्रके हितैषी हैं, सर्व जीवोंको सत्य धर्मका उपदेश देते हैं तथा पांचो इन्द्रिय व मनको वश रखनेवाले हैं तथा सामायिकादि संयमोंको भले प्रकार पालते हैं, ऐसे ही महात्मा उत्तम पात्र हैं जिनको बड़ी भक्तिसे दान करके गृहस्थको अपना जन्म सफल मानना चाहिये।

परीषहजये शक्तं शक्तं कर्मपरिक्षये।
ज्ञानध्यानतपो भूषं शुद्धाचरणपरायणं॥ २०३॥
प्रशान्तमानसं सौख्यं प्रशान्तकरणं शुभं।
प्रशान्तारिमहामोहं कामक्रोधादिसूदनम्॥ २०४॥
निन्दास्तुतिसमं धीरं शरीरेऽपि च निस्पृहं।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जितलोभमहाभटं॥ २०५॥

रागद्वेषविनिर्मुक्तं सिद्धिसंगमनोत्सुकम् ।
ज्ञानाभ्यासरतं नित्यं नित्यं च प्रशमे स्थितम् ॥ २०६ ॥
एवं विधं हि यो दृष्ट्वा स्वगृहाङ्गणमागतम् ।
मात्सर्य कुरुते मोहात् क्रिया तस्य न विद्यते ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थ--(परीषहजये शक्तं) जो बाईस परिषहोंके जीतनेमें समर्थ हों, (कर्मपरिक्षये शक्तं) तथा कर्मोंके क्षय करनेके लिये उत्साही हों, (ज्ञानध्यानतपो भूषं) जिनका आभूषण ज्ञान, ध्यान, तप हो, (शुद्धाचरणपरायणं) जो शुद्ध चारित्रके पालनेमें लवलीन हों, (प्रशान्तमानसं) जिनका मन शान्त हो, (सौख्यं) जो आनंदमय हो, (प्रशान्तकरणं) जिनकी पांचों इन्द्रियोंकी इच्छाएँ शांत हों, (शुभं) जो शुभ आचरणके कर्ता हों, (प्रशांतारिमहामोहं कामक्रोधादिसूदनम्) जो महान मोहरूपी शत्रुको शांत कर चुके हों तथा काम क्रोधादिके नाशक हों (निन्दास्तुतिसमं) जो अपनी निन्दा व स्तुतिमें एकसमान भावके धारी हों (धीरं) क्षमाशील धैर्यवान हों (शरीरेऽपि च निस्पृहं) जो शरीरसे भी विरागी हों (जितेन्द्रियं) जो इन्द्रियोंके विजयी हों (जितक्रोधं) जो क्रोधको जीतनेवाले हों (जितलोभमहाभटं) जिन्होंने लोभरूपी महान् योद्धाको जीत लिया हो (रागद्वेषविनिर्मुक्तं) जो रागद्वेषसे रहित हों (सिद्धिसंगमनोत्सुकम्) सिद्ध गतिकी संगतिके पानेके लिये मनमें बडे उत्सुक हों, (नित्यं ज्ञानाभ्यासरतं) नित्य शास्त्रज्ञानके अभ्यासमें रत हों (नित्यं च प्रशमे स्थितम्) नित्य ही शांतिमें रमते हों, (एवं विधं स्वगृहांगणमागतं दृष्ट्वा) ऐसे महान्

अपने घरके आंगण तक आए हुए देखकर (यः मोहात् मात्सर्यं कुरुते) जो कोई मोहके वशीभूत होकर उनके साथ ईर्षा करे, उनका सत्कार न करें, उनको दान न देवें (तस्य क्रिया न विद्यते) वह श्रावककी क्रियासे रहित है।

भावार्थ–ऊपर लिखित गुणोंसे विशिष्ट महान् वैरागी निस्पृह आत्मज्ञान व ध्यानमें रत निर्ग्रन्थ साधुका जो सन्मान नहीं करता है वह स्वयं मिथ्यादृष्टी है, धर्म क्रियाओंसे शून्य हैं, वह दानका मार्ग नहीं जानता है।

मोक्षमार्ग पथिक।

मायां निरासिकां कृत्वा तृष्णां च परमोजसः।
रागद्वेषौ समुत्सार्य प्रयाता पदमक्षयम् ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थ–(परमोजसः) परम तेजस्वी वीर पुरुष (मायां च तृष्णां निरासिकां कृत्वा) मायाचार और तृष्णाको दूर करके (रागद्वेषौ समुत्सार्य) और रागद्वेषको नाश करके (अक्षयम् पदम् प्रयाताः) अविनाशी मोक्षपदको पहुँचे हैं।

भावार्थ–संसारका मुल कारण तृष्णा है, विषयोंकी लोलुपता है। इसीके हेतु प्राणी मायाचार करते हैं तथा इसी हेतु इष्ट पदार्थोंमें राग व अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष होता है। ये रागद्वेष ही कर्मबंधके कारण हैं। इन्हींके नाशसे कर्मोंका क्षय होता है। सम्यग्दृष्टि धीर वीर पुरुष साहस करके आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं। क्षपकश्रेणीपर आरूढ़ होकर चार घातीयकर्मोंका नाश करके केवली होजाते हैं।

फिर शेष चार अघातीय कर्मोंका भी क्षयकर शुद्ध और कृत्यकृत्य हो अविनाशी मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

धीराणामपि ते धीरा ये निराकुलचेतसः।
कर्मशत्रुमहासैन्यं ये जयन्ति तपोबलात् ॥ २०९ ॥

अन्वयार्थ–(ये निराकुलचेतसः) जो आकुलता रहित चित्तको धारण करनेवाले हैं (ये तपोबलात् कर्मशत्रुमहासैन्यं जयंति) तथा जो तपके बलसे कर्मशत्रुओंकी महासेनाको जीत लेते हैं (ते धीराणाम् अपि धीराः) वे धीर पुरुषोंमें भी बड़े धीर हैं।

भावार्थ–जगतके शत्रुओंको जीतना कोई वीरताकी बात नहीं है। धन्य हैं वे महापुरुष जो निर्ग्रंथ होकर आगमानुसार चारित्र पालकर बाईस परीषहोंको सहते हुए परम क्षमाभावके साथ तप करते हैं और वीतरागता व समताको प्यार करते हुए आत्मानंदका भोग करते हैं। उनहीके कर्मकी निर्जरा होती है व नवीन कर्मोंका संवर होता है। वे मोहको पददलित करते हुए निर्मोहभावमें बढ़ते हुए शुद्ध परमात्मा होजाते हैं।

परीषहजये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे।
कषायविजये शूरास्ते शूरा गदिता बुधैः ॥२१०॥

अन्वयार्थ–(परीषहजये शूराः) जो क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहोंके जीतनेमें वीर हैं (च इन्द्रियनिग्रहे शूराः) और जो पांचों इन्द्रियोंको वश रखनेमें वीर हैं (कषायविजये शूराः) और जो क्रोधादि कषायोंके जीतनेमें योद्धा हैं (ते शूराः) वे ही सच्चे वीर (बुधैः गदिताः) बुद्धिमानोंके द्वारा कहे गए हैं।

भावार्थ—इस संसारमें संसारी प्राणियोंके मुख्य वैरी विषय तथा कषाय हैं तथा सहनशीलता रखना बड़ा ही दुर्लभ है। आपत्तियोंके आनेपर आकुलता न होना बड़ा ही साहसका काम है। जो महापुरुष संकटोंके पड़नेपर भी वज्रके समान धीरवीर बने रहते हैं तथा उत्तमक्षमादि दशलाक्षणी धर्मके प्रभावसे या व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निश्चय रत्नत्रयमई आत्मानुभवका अभ्यास करते हुए विषय कषायोंको जीत लेते हैं, वे ही सच्चे वीर हैं, पूज्यनीय हैं, वंदनीय हैं।

नादत्तेऽभिनवं कर्म सच्चारित्रनिविष्टधीः।
पुराणं निर्जयेद्गाढं विशुद्धध्यानसंगतः॥ २११॥

अन्वयार्थ—(सच्चारित्रनिविष्टधीः) सम्यक्चारित्रके पालनेमें जिसकी बुद्धि लवलीन है वह ज्ञानी (विशुद्धध्यानसंगतः) निर्मल वीतराग ध्यानकी संगतिसे (अभिनवं कर्म न आदत्ते) नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं करता है (पुराणं वाढं निर्जयेत्) व पुराने कर्मोंकी अत्यधिक निर्जरा करता है।

भावार्थ—व्यवहार चारित्रके द्वारा स्वरूपाचरण रूप निश्चय चारित्र या आत्मरमणरूप ध्यान ही वास्तवमें मोक्षका मार्ग है। जिस उपायसे नवीन कर्मोंका संवर हो और पूर्वबद्ध कर्मोंकी अति अधिक निर्जरा हो वही मुक्तिका उपाय है। अतएव तत्वज्ञानी जीव पूर्ण समताभावके साथ प्रयत्न पूर्वक आत्मध्यानका दृढ़तासे अभ्यास करते हुए आत्मशुद्धि करते चले जाते हैं। ऐसे धीर वीर पुरुष धन्य हैं।

संसारावासनिर्वृत्ताः शिवसौख्यसमुत्सुकाः।
सद्भिस्ते गदिताः प्राज्ञाः शेषाः स्वार्थस्य वंचकाः ॥२१२॥

अन्वयार्थ–(संसारावास निर्वृत्ताः) जो संसारके भ्रमणसे उदास हैं (शिवसौख्यसमुत्सुकाः) तथा कल्याणमय मोक्षके सुखके लिये अत्यंत उत्साही हैं। (ते प्राज्ञाः) वे ही बुद्धिमान पंडित (सद्भिः) साधुओंके द्वारा (गदिताः) कहे गए हैं (शेषाः स्वार्थस्य वंचकाः) बाकी सब जीव अपने आत्माके पुरुषार्थको ठगनेवाले हैं।

भावार्थ–वे ही पंडित व विद्वान हैं जो भेदविज्ञान द्वारा यह निर्णय कर चुके हैं कि चार गति संसारका वास त्यागने लायक हैं व मोक्षका निराकुल धाम ग्रहण करनेलायक है। ऐसा निश्चय करके जो संसारसे वैरागी होकर व मोक्षके उत्साही होकर सम्यक्चारित्रका भले प्रकार पालन करते हैं परन्तु जो केवल शास्त्रोंको जानते हैं, बहुत उपदेश करते हैं परन्तु संसारसे न वैरागी हैं न मोक्षके लिये उद्यमशील हैं वे अपनेको ठग रहे हैं, जान करके भी आत्मकल्याणसे विमुख हैं।

समतां सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थ–(यः सुमानसः) जो शुद्ध मनधारी मानव (ममत्वभावनिर्मुक्तः) ममता भावको छोड़कर (सर्वभूतेषु समतां करोति) सर्व प्राणीमात्रपर समताभाव रखता है (असौ) वह (अव्ययम् पदं याति) मोक्षके अविनाशी पदको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–मोक्षमार्ग आत्मज्ञान पूर्वक वीतरागभावमें है। वीत-

रागता तब ही प्राप्त होगी जब सर्व जगतके पदार्थोंसे ममत्वका त्याग किया जायगा। और जब सर्व जगतके प्राणियोंको निश्चयनयसे एक समान शुद्ध ज्ञातादृष्टा अविनाशी वीतरागमय देखा जायगा। तब किसीसे न राग रहेगा, न किसीसे द्वेष रहेगा। समताभाव सहित वर्तनेसे आत्मध्यानकी वृद्धि होती है। जिससे संवर विशेष होता है व पूर्वबद्ध कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है। ऐसा जानकर मुमुक्षुको साम्यभावका अभ्यास करना चाहिये।

इन्द्रियाणां जये शूराः कर्मबन्धे च कातराः
तत्वार्थाहितचैतस्काः स्वशरीरेऽपि निस्पृहाः ॥ २१४ ॥
परीषहमहारातिवननिर्दलनक्षमाः ।
कषायविजये शूराः स शूर इति कथ्यते ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियाणां जये शूराः) जो पांचों इन्द्रियोंके जीतनेमें वीर हैं (कर्मबंधे च कातराः) तथा कर्मोंके बांधनेमें कायर हैं अर्थात् जो कर्मबंधसे भयभीत हैं (तत्वार्थाहितचैतस्का) तत्वार्थके मननमें जिनका मन लवलीन है (स्वशरीरेऽपि निस्पृहाः) जो अपने शरीरसे मोह रहित हैं (परीषहमहारातिवननिर्दलनक्षमाः) जो बाईस परीषहरूपी शत्रुओंके बनको नाश करनेमें समर्थ हैं (कषायविजये शूराः) जो कषायोंके जीतनेमें शूर हैं (स शूरः इति कथ्यते) वे ही शूर हैं ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—महाव्रती निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय साधु संसारसे परम वैरागी, जितेन्द्रिय, तत्वके अभ्यासी, परीषहोंको जीतनेवाले, वीतरागी होते हुए ऐसे उत्तम ध्यानका अभ्यास करते हैं जिससे

कर्मोंकी निर्जरा होजाती है और आत्माकी शक्ति बढ़ती जाती है। वे ही सच्चे वीर योद्धा हैं।

संसारध्वंसिनीं चर्यां ये कुर्वंति सदा नराः।
रागद्वेषहतिं कृत्वा ते यान्ति परमं पदम् ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थ-(ये नराः) जो मनुष्य (सदा) हमेशा (संसारध्वंसिनीं चर्यां कुर्वंति) संसारको नाश करनेके लिये आचरण पालते हैं (ते) वे (रागद्वेषहतिं कृत्वा) रागद्वेषको नाश करके (परमं पदम् यान्ति) परम पदको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ-सम्यग्दृष्टी निर्ग्रंथ साधु संसारको दुःखोंका सागर समझकर इससे पार होनेके लिये मुनिपदके चारित्रको भलेप्रकार पालते हैं। व्यवहार चारित्रके द्वारा निश्चय चारित्रको पालते हुए स्वात्मानुभवका आनन्द लेते हुए परम समताभावमें जमते हुए रागद्वेषका क्षय कर देते हैं। वीतरागताका प्रगट होना ही परम पदका लाभ है।

मलैस्तु रहिता धीरा मलदिग्धाङ्गयष्टयः।
सद्ब्रह्मचारिणो नित्यं ज्ञानाभ्यासं सिषेविरे ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ-(मलैस्तु रहिताः) जो रागादि दोषोंसे रहित होजाते हैं (मलदिग्धांगयष्टयः परन्तु स्नानादिके त्यागसे शरीरके अंगउपंगोंमें मलसे लिप्त दिखते हैं तथापि (सद्ब्रह्मचारिणः) सच्चे ब्रह्मचारी होते हैं ऐसे (नित्यं ज्ञानाभ्यासं सिषेविरे) सदा ज्ञानका अभ्यास करते रहते हैं।

भावार्थ-निर्ग्रंथ साधु शरीरके मलीनपनेकी कुछ भी परवाह

न करते हुए अपने व्यवहार व निश्चय चारित्रको अतीचार रहित पालते हैं। अन्तरङ्गमें शुद्धात्माके स्वरूपकी भावना करते हैं। आत्मध्यानमें जमते हैं। जब उपयोग ध्यानमें नहीं लगता है तब शास्त्रोंका मनन करते हैं। निरंतर ज्ञानानन्दका रस पान करना ही उनका ध्येय होता है।

ज्ञानभावनया सिक्ता निभृतेनान्तरात्मनः।
अप्रमत्तं गुणं प्राप्य लभन्ते हितमात्मनः॥ २१८॥

अन्वयार्थ–(अन्तरात्मना:) सम्यग्दृष्टी महात्मा साधु (ज्ञानभावनया सिक्ता) आत्मज्ञानकी भावनासे सींचे हुए व (निभृतेन) दृढ़ता रखते हुए (अप्रमत्तं गुणं प्राप्य) अप्रमत्त गुणस्थानोंमें चढ़कर (आत्मनः हितं) अपने आत्माका हित (लभन्ते) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ–आत्मध्यानका दृढ़तापूर्वक अभ्यास करनेसे अप्रमत्तविरत नाम सातवें गुणस्थानसे आगे चढ़कर साधु अपूर्वकरणादि गुणस्थानोंके द्वारा मोहका क्षय करके फिर शेष तीन घातीय कर्मोंका भी क्षय करके केवलज्ञानी होजाते हैं। सातवेंसे चौदह गुणस्थान तकके सब गुणस्थान अप्रमत्त कहलाते हैं; क्योंकि सर्व ही आत्मध्यानासक्त हैं। समतापूर्वक ध्यान करनेसे ही परमात्मपदकी प्राप्ति होती है।

संसारवासभीरूणां त्यक्तान्तर्बाह्यसंगिनाम्।
विषयेभ्योनिवृत्तानां श्लाघ्यं तेषां हि जीवितम्॥२१९॥

अन्वयार्थ–(संसारावासभीरुणां) जो महात्मा संसारके भ्रमणसे भयभीत हैं (त्यक्तान्तर्बाह्यसंगिनाम्) तथा रागादि अन्तरंङ्ग परिग्रह

व क्षेत्र मकानादि बाहरी परिग्रहके त्यागी हैं तथा (विषयेभ्यो निवृत्तानां) पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हैं (तेषां हि जीवितम् श्लाध्यं) उन साधुओंका ही जीवन प्रशंसनीय है।

भावार्थ—मोक्षमार्गपर आरूढ़ होकर सीधे मोक्ष—घरकी तरफ बढ़नेवाले वे ही साधु होते हैं जिसको इस संसारकी चारों गतियोंमें कहीं भी सुन्दरता नहीं भासती है, सर्व ही गतियोंमें मानसिक या शारीरिक कष्टोंकी आकुलता ही नजर आती है तथा बालकवत् सरल होकर वस्त्रादि परिग्रहको त्यागकर अंतरंगमें कषायोंको व कामादि भावोंको जीतते हैं। तथा जो जितेन्द्रिय रहते हैं, आत्मसुखमें सदा मगन रहते हैं उनहीका मानवजीवन प्रशंसाके योग्य है, उन्होंने ही नरजन्मको सफल किया है।

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानापमानयोः।
लाभालाभे समो नित्यं लोष्ठ कांचनयोस्तथा ॥२२०॥
सम्यक्त्वभावनाशुद्धं ज्ञानेसेवापरायणं।
चारित्राचरणासक्तमक्षीणसुखकांक्षिणम् ॥ २२१ ॥
ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा यो न मन्येत दुष्टधीः।
नृजन्मनिष्फलं सारं संहारयति सर्वथा ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थ—(शत्रौ च मित्रे समः) जो महात्मा साधु शत्रुमें व मित्रमें समानभाव रखते हैं (च मानापमानयोः समः) तथा जो मान व अपमान होनेपर समभावके धारी रहते हैं (लाभालाभे समः) व जो लाभ व हानिमें समान भाव रखते हैं (तथा नित्यं लोष्ठ-कांचनयोः समः) तैसे ही जो सदा कंकड और सुवर्णमें एकसा

भाव रखते हैं (सम्यक्त्वभावनाशुद्धं) जिनकी भावना सम्यग्दर्शनके कारण शुद्ध रहती है (ज्ञानसेवापरायणं) जो तत्वज्ञानकी सेवामें तत्पर रहते हैं (चारित्राचरणासक्तं) जो सम्यक्चारित्रके आचरणोंमें आसक्त हैं (अक्षीणसुखकांक्षिणम्) जिनको अविनाशी आत्मिक सुखकी ही इच्छा है (ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा) ऐसे सच्चे निर्ग्रंथ साधुको देखकर (यः दुष्टधीः) जो दुष्टबुद्धि मानव (न मन्यते) भक्ति नहीं करता है वह (नृजन्म निष्फलं) अपने मानवजन्मको निरर्थक बनाता हुआ (सारं सर्वथा संहारयति) इस जन्मसे जो सार फल प्राप्त करना था उसको बिलकुल नाश कर डालता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी शास्त्रोक्त आचरण करनेवाले जितेन्द्रिय वीतरागी साधु सच्चे मोक्षमार्गी साधु हैं। उनका दर्शन करके भव्य जीव तृप्त होजाते हैं। ऐसे उत्तम पात्रको लाभ होजावे तो दातार गदगद होजाते हैं, अपना जन्म सफल मानते हैं और नव प्रकार भक्ति करके दान देते हैं। जो अज्ञानी, अभिमानी व दुष्ट मानव हैं वे ऐसे आत्मज्ञानी साधुको देखकर मुंह फेर लेते हैं, उनको दानादि नहीं देते हैं। वे मानव देव, गुरु, धर्मकी श्रद्धा न रखते हुए बहिरात्मा व मानी हैं। उन्होंने अपने मानवजन्मका सार कुछ भी न पाया। इस नरजन्मकी सफलता तो आत्मज्ञान व आत्मानुभवके लाभसे होती है जिससे वर्तमानमें भी सहज सुखशांति मिलती है व भविष्यमें सुन्दर जीवन प्राप्त होजाता है।

रागादिवर्जनं संगं परित्यज्य दृढव्रताः।
धीरा निर्मलचेतस्का तपस्यन्ति महाधियः॥ १२३ ॥

अन्वयार्थ-(रागादिवर्द्धनं संगं) रागद्वेषादि बढ़ानेवाली परिग्रहको (परित्यज्य) त्याग करके (महाधियः) महान विद्वान धीमान् (दृढव्रताः) दृढ़तासे व्रतोंको पालते हुए (निर्मलचेतस्काः) व चित्तको शुद्ध रखते हुए (धीराः) धैर्यवान् (तपस्यन्ति) तपका साधन करते हैं।

भावार्थ-कर्मोंकी निर्जरा तपके विना नहीं होसक्ती है। तपस्वियोंके लिये आवश्यक है कि वे अंतरंग व बहिरंग परिग्रहोंका त्याग करें; क्षुधा तृषा, शीत उष्णादि बाईस परिषहोंको समताभावसे सहन करनेवाले हों. अपने अहिंसादि पांच व्रतोंको दृढ़तासे पालन करें व चित्तमें माया मिथ्या निदान आदि कोई दोप न रक्खें-परम धैर्यके साथ आत्मध्यानका साधन करें।

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैपिणाम्।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम्॥ २२४॥

अन्वयार्थ-(संसारोद्विग्नचित्तानां) जिनका चित्त इस दुःखमय संसारसे विरक्त है (निःश्रेयससुखैपिणाम्) व जो मोक्षके अविनाशी सुखके अभिलापी हैं (सर्वसंगनिवृत्तानां) तथा जो सर्व अंतरंग बहिरंग परिग्रहके त्यागी हैं (तेपां हि जीवितम् धन्यं) ऐसे ही महात्माओंका जीवन धन्य है, प्रशंसनीय है।

भावार्थ-सर्वसे उत्तम पुरुपार्थ मोक्ष है। जिसकी सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर प्राणी सर्व दुःखोंसे छूट जाता है और वह आत्मा अपनी स्वाभाविक अमूल्य सम्पदाको प्राप्त कर लेता है। इसका उपाय वे ही कर सक्ते हैं जो निर्ग्रंथ साधु सर्व परिग्रहके त्यागी होकर संसारसे

तीव्र वैरागी हैं तथा अतीन्द्रिय आनंदको निरन्तर पानेकी भावना रखते हैं। जो महानुभाव इस पुरुषार्थको साधन करते हैं उनका मानव जन्म वास्तवमें प्रशंसाके योग्य है।

सप्तभीस्थानमुक्तानां यत्रास्तमितशायिनाम्।
त्रिकालयोगयुक्तानां जीवितं सफलं भवेत् ॥ २२९ ॥

अन्वयार्थ-(सप्तभीस्थानमुक्तानां) जो सात प्रकार भयोंके स्थानसे मुक्त हैं (यत्रास्तमितशायिनाम्) जहां भी सूर्य्य अस्त होजावे वहीं ही विश्राम करनेवाले हैं (त्रिकालयोगयुक्तानां) व तीनों काल योग करनेवाले हैं (जीवितं सफलं भवेत्) उनहीका जीवन सफल होता है।

भावार्थ-निर्ग्रंथ मुनियोंकी यह चर्या है कि वे सात प्रकारका भय न रखके निर्भय रहते हैं। वे सात भय हैं-१ इसलोक भय-लोक क्या कहेंगे ऐसा भय, २ परलोक भय-परलोकमें कहीं दुःख मय गतिमें न चला जाऊं, ३ रोग भय-कहीं रोग न आजावे, ४ अरक्षा भय-मेरा कोई रक्षक नहीं है, क्या करूं, ५ अगुप्ति भय-मेरी वस्तुएं कहीं चली न जावें, ६ मरण भय कहीं मरण न हो जावे, ७ अकस्मात् भय-कहीं कोई आपत्ति न आजावे। वे साधु परम दयावान होते हैं, दिवसमें ही प्रासुक जंतुरहित भूमिपर विहार करते हैं। जहांपर भी सूर्य अस्त होनेको होता है वहीं रात्रिको ठहर जाते हैं व योगाभ्यास करते हैं। सवेरे दोपहर व सांझको तो अवश्य ध्यानमें मग्न रहते हैं। इस प्रकारका चारित्र पालनेवाले साधुओंका ही जीवन सफल है।

आर्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात्।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ॥ २२६ ॥

अन्वयार्थ-(आर्तरौद्रपरित्यात्) आर्त व रौद्रध्यानका त्याग करनेसे (धर्मशुक्लसमाश्रयात्) तथा धर्मध्यान व शुक्लध्यानका आश्रय करनेसे (जीवः) यह जीव (अनंतसुखं) अनन्तसुखसे पूर्ण (अच्युतं) और अविनाशी (निर्वाणं) मोक्षको (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ-इस लोक परिणामोंकी थिरताकी अपेक्षासे ध्यान चार प्रकारका है। आर्त रौद्रध्यान संसारके कारण हैं जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं। आर्तध्यान चार प्रकार है। इष्ट वियोगज-इष्ट पदार्थोंके वियोगसे होनेवाला। अनिष्ट संयोगज-अनिष्ट वस्तुके संयोगसे होनेवाला। पीड़ाजनित-रोग पीड़ासे होनेवाला। निदानज-आगामी भोगोंकी इच्छासे होनेवाला। यह चार प्रकारका दुष्ट भावरूप आर्तध्यान होता है। हिंसानन्दी-हिंसामें आनन्द माननेवाला। मृषानंद-असत्यमें आनंद माननेवाला। चौर्यानंद-चोरीमें आनंद माननेवाला। परिग्रहानंद-परिग्रहमें आनन्द माननेवाला। ये चार प्रकारके दुष्ट भाव एवं रौद्रध्यान हैं। मुख्यतासे रौद्रध्यान नर्कगतिका व आर्तध्यान तिर्यंच गतिका बंध करता है। चार प्रकारका धर्म ध्यान है-

१-आज्ञाविचय-जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार जीवादि तत्वोंका विचार करना, २-अपायविचय-अपने व दूसरोंके रागादिभावोंका व कर्मोंका नाश कैसे हो यह विचार करना, ३-विपाकविचय-कर्मोंके शुभ व अशुभ फलको विचारकर समभाव रखना। ४ संस्थानविचय-

लोकका स्वरूप या आत्माके स्वरूपका विचार करना। यह ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तविरत सातवें गुणस्थान तक होता है। चार प्रकारका शुक्लध्यान है—१ पृथक्त्ववितर्क-वीचार—जहां अबुद्धिपूर्वक योगसे अन्य योग, शब्दसे अन्य शब्द, ध्येय पदार्थसे अन्य ध्येयपर पलटन होसके। २ एकत्व वितर्क-अवीचार—जहां एक ही योग द्वारा एक ही शब्द द्वारा एक ही ध्येय पर जमा जावे। ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति—जहां काययोगका सूक्ष्म हलनचलन रह जावे। ४ व्युपरतक्रिय निवृत्ति—जहां सर्व योगोंका निरोध होजावे। आठवें गुणस्थानसे बारहवेंके प्रारंभतक पहला शुक्लध्यान रहता है, बारहवेंमें दुसरा होता है। तेरहवेंके अंतमें तीसरा व चौदहवें गुणस्थानमें चौथा शुक्लध्यान होकर यह जीव सिद्ध होजाता है।

आत्मानं विनयाभ्यासे विषयेषु पराङ्मुखः ।
साधयेत् स्वहितं प्राज्ञो ज्ञानाभ्यासरतो यतिः ॥ २२७ ॥

अन्वयार्थ—(प्राज्ञः यतिः) बुद्धिमान् भेदविज्ञानी यति (विषयेषु पराङ्मुखः) पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख होता हुआ (ज्ञानाभ्यासरतः) तत्वज्ञानके अभ्यासमें दत्तचित्त रहता हुआ (आत्मानं विनयाभ्यासे) व अपनेको चारित्रके अभ्यासमें लगाये रखता हुआ (स्वहितं साधयेत्) आत्माके हितका साधन करता है।

भावार्थ—आत्मोन्नतिके पथपर साधु तब ही चल सक्ता है जब वह अपने चित्तको इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहने व निरंतर तत्वज्ञानका व आत्मज्ञानका अभ्यास करे व इसीलिये जिनागमका मनन करनेमें अपने समयको लगाए रहे व जिनोक्त चारित्रके साधनमें प्रमादी न हो।

यथा संगपरित्यागस्तथा कर्मविमोचनम्।
यथा च कर्मणां छेदस्तथासन्नं परं पदम् ॥ २२८ ॥

अन्वयार्थ-(यथासंगपरित्यागः) जैसे२ परिग्रहका ममत्व छोड़ा जाता है (तथा कर्मविमोचनम्) वैसे २ कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है (यथा च कर्मणां छेदः) जैसे२ कर्मोंका क्षय होता जाता है (तथा परम्पदम् आसन्नं) वैसे२ परमपद मोक्ष समीप आता जाता है।

भावार्थ-यद्यपि बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकार अन्तरंग व दश प्रकार बहिरंग परिग्रहका त्याग साधुपद धारते हुए किया जाता है तथापि जबतक कषायोंका उदय है तबतक परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं है। आत्मध्यानकी अग्नि बढ़नेसे जैसे २ गुणस्थान चढ़ता है वैसे २ कषाय मंद होती जाती है वीतरागता बढ़ती जाती है। जितनी अधिक २ वीतरागता बढ़ती जाती है उतनी ही अधिक २ कर्मोंकी निर्जरा होती है। जितनी२ अधिक कर्मोंकी निर्जरा होती है व आस्रवका निरोध अधिक२ होता है उतना ही मोक्षपद निकट आता जाता है।

यत्परित्यज्य गन्तव्यं तत् स्वकीयं कथं भवेत्।
इत्यालोच्य शरीरेऽपि विद्वान् तां च परित्यजेत् ॥२२९॥

अन्वयार्थ-(यत् परित्यज्य) जिस शरीरको छोडकर (गन्तव्यं) जाना पडेगा (तत् स्वकीयं कथं भवेत्) वह शरीर अपना कैसे होसक्ता है (इति आलोच्य) ऐसा विचार कर (विद्वान्) भेद-विज्ञानी पंडित (शरीरे अपि) शरीरसे भी (तां च परित्यजेत्) उस ममत्वभावको छोड़ देते हैं।

भावार्थ—धन, धान्य वस्त्रादि तो शरीरसे बिलकुल जुदे हैं, इनका त्याग कर देना तो संभव है, शरीरका त्याग तो संभव नहीं क्योंकि यह संयमका साधक है। ऐसा है तौभी साधुगण शरीरमें ममता नहीं रखते हैं, केवल उसकी रक्षा संयमका साधक जान करते हैं। उनको यह निश्चय है कि शरीर पर है, आयुकर्मके आधीन है, आयुक्षयसे अवश्य क्षय होजायगा। तब वे प्रवीण साधु इस क्षणिक शरीरसे मोह नहीं करते हैं किंतु इसके द्वारा आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं।

नूनं नात्मा प्रियस्तेषां ये रताः संगसंग्रहे।
समासीनाः प्रकृतिस्थाः स्वीकर्तुं नैव शक्यते ॥ २३० ॥

अन्वयार्थ—(ये संगसंग्रहे रताः) जो परिग्रहके संचय करनेमें रत हैं, (समासीनाः) सुखसे बैठनेवाले हैं (प्रकृतिस्थाः) कर्मोंके उदयके आधीन हैं (तेषां नूनं आत्मा प्रियः न) उनको निश्चयसे आत्माकी ओर प्रेम नहीं है (स्वीकर्तुं नैव शक्यते) वे कभी भी आत्माकी सत्ता स्वीकार नहीं कर सक्ते हैं।

भावार्थ- संसार और मोक्षसे विपरीतता है। जो संसारप्रेमी हैं वे मोक्षप्रेमी नहीं, जो मोक्षप्रेमी हैं वे संसार रागी नहीं। जिनको विषयभोगोंकी भावना रहती है वे नाना प्रकार भोगसामग्री व धनका संचय करते हैं। आलस्य प्रमादसे बैठे रहते हैं। कर्मोंके उदयके अनुकूल वर्तते रहते हैं। वे मोही जीव एक तो आत्माकी बात ही नहीं सुनते हैं, यदि सुनते हैं तो धारणामें नहीं रखते है। अनंतानुबन्धी कषायके उदयसे उनको आत्माकी ओर प्रेम नहीं उठता है।

ममत्व व परिग्रहत्यागसे लाभ।

शरीरमात्रसंगेन भवेदारम्भवर्धनम्।
तदशाश्वतमत्राणं तस्मिन् विद्वान् रतिं त्यजेत् ॥२३१॥

अन्वयार्थ—(शरीरमात्रसंगेन) और परिग्रह न होते हुए भी शरीर मात्रके परिग्रहसे (आरम्भवर्धनम् भवेत्) शरीरके लिये आरम्भकी वृद्धि होसकती है (तत् अशाश्वतं) यह शरीर अनित्य है (अत्राणं) अशरण है (विद्वान्) पण्डित पुरुष (तस्मिन् रतिं त्यजेत्) इस शरीरमें आसक्ति छोड़ देते हैं।

भावार्थ—शरीरकी आसक्ति बुरी चीज है। यदि शरीरमें मोह हो तो इसके लिये भोग्य वस्तुओंके संग्रहका प्रबन्ध करना पड़ता है और परिग्रहका सम्बन्ध बढ़ जाता है। ज्ञानी जब यह भले प्रकार जानते हैं कि यह शरीर एक दिन छूट जायगा तब कोई इसे रख नहीं सकता। मंत्र, यंत्र, औषधि, देव, दानव, मित्रादि कोई भी शरीरको अचेतन होनेसे बचा नहीं सकते। ऐसा समझकर ज्ञानी जन इससे प्रीति बिलकुल नहीं रखते हैं। चाकरके समान इसे पाल कर इससे संयमका साधन कर लेते हैं।

संगात् संजायते गृद्धिर्गृद्धौ वांछति संचयम्।
संचयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरम्परा ॥२३२॥

अन्वयार्थ—(संगात् गृद्धिः संजायते) परिग्रहकी मूर्छा होनेसे विषयोंकी लोलुपता पैदा होती है (गृद्धौ संचयं वांछति) लोलुपता होनेसे धनादि परिग्रहका एकत्र होना चाहता है (संचयात् लोभः

वर्धते) धनादिके संचय करनेसे लोभ बढ़ता जाता है (लोभात् दुःखपरम्परा) लोभसे दुःखोंकी संतान बढ़ जाती है ।

भावार्थ जिसके भीतर शरीरादिसे ममता होगी उसके भीतर इन्द्रियभोगोंकी गृद्धता पैदा होजायगी तब वह अवश्य धनादि सामग्रीको इकट्ठा करेगा । जितना२ धन बढेगा उतना२ लोभ बढ़ेगा कि यह धन कम न हो किन्तु बढ़ता जावे । लोभके बढ़नेसे अन्यायमें प्रवृत्ति होगी, अन्यायसे तीव्र पाप बंध होगा, पापके फलसे दुःख होगा, नीच गति होगी । वहां भी अशुभ भावोंके कारण पाप बंध होगा । फिर दुःखमय अवस्था प्राप्त होगी । लोभकी मंदता होना अतिशय कठिन होजायगा ।

ममत्वाज्जायते लोभो लोभाद्रागश्च जायते ।
रागाच्च जायते द्वेषो द्वेषाद्दुःखपरम्परा ॥ २३२ ॥

अन्वयार्थ-(ममत्वात्) ममताभावसे (लोभो जायते) लोभ पैदा होता है (लोभात् रागः च जायते) तथा लोभसे राग पैदा होता है (रागात् च द्वेषः जायते) रागसे द्वेष उत्पन्न होता है । (द्वेषात् दुःखपरंपरा) द्वेषसे दुःखकी संतान चल पड़ती है ।

भावार्थ-शरीर, कुटुम्ब व भोग सामग्रीमें ममता भाव होनेसे उनके बने रहनेका व उनके लिये धनादि प्राप्तिका लोभ होता है । लोभके कारण जिन२ पदार्थोंके संयोगसे स्वार्थकी सिद्धि होती है, उनकी तरफ राग होता है, रागके कारण जो उन पदार्थोंके विरोधी हैं उनसे द्वेष होजाता है । रागद्वेषसे कर्मोंका बन्ध होता है, कर्मोंके उदयसे दुःखके कारणोंकी व शरीरादिकी प्राप्ति होती है, फिर ममता

भावसे लोभ होता है। इसतरह संसारमें दुःखोंकी परिपाटी चला करती है। अतएव परिग्रहका होना संसारवर्द्धक है।

निर्ममत्वं परमतत्वं निर्ममत्वं परं सुखम्।
निर्ममत्वं परमबीजं मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥ २३४ ॥

अन्वयार्थ-(निर्ममत्वं परमतत्वं) ममता रहित होना परम तत्व है (निर्ममत्वं परं सुखं) ममतारहित होना परमसुख है (निर्ममत्वं मोक्षस्य परमबीजं) ममतारहित भाव मोक्षका श्रेष्ठ बीज है (बुधैः कथितं) ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है।

भावार्थ-जिसने सर्व परपदार्थोंसे ममता छोड़ दी है, इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती आदिके भोग जिसे आकुलताकारक त्यागने योग्य भासते हैं, वह महात्मा मात्र एक अपने आत्मामें व उसकी मुक्तिमें ही प्रेमी होजाता है। अतएव वह सर्व ममत्वसे रहित होकर परमात्मतत्वका भलेप्रकार अनुभव कर सकता है। इस स्वात्मानुभवसे अतींद्रिय उत्तम सुखको भोगता है, यही मोक्षका सच्चा उपाय है। जब जगतकी चंचल वस्तुओंमे वैराग होगा तब ही निजात्मीक आनन्दका प्रेम होगा। सुखका कारण एक निर्ममत्वभाव ही है। निर्मोही जीव ही मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिभेदनं।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥ २३५ ॥

अन्वयार्थ-(निर्ममत्वे आत्मनः संस्थिते सति) सर्व पर पदार्थोंसे ममता छोड़कर अपने आत्मामें स्थितिको प्राप्त कर लेनेपर (संसारस्थितिभेदनं) संसारकी स्थितिको भेदनेवाला (परमोत्कृष्ट

सौख्यं) परमोत्कृष्ट सुख (सदा जायते) सदा अनुभवमें आता है।

भावार्थ-जिसके भीतर ठहरना है, जिसका स्वाद लेना है, जिसमें सच्चा आनन्द है, वह आप आत्मा ही है। यह उपयोग जबतक आत्मासे बाहर रमण करता रहता है तबतक अपने आत्माका स्वाद नहीं आसक्ता है। जब उपयोगको सर्व अनात्माओंसे व सर्व पर आत्माओंसे-अरहंत सिद्धसे भी हटाकर-अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभावमें श्रद्धापूर्वक जोड़ा जाता है, तन्मय किया जाता है, एकाग्र किया जाता है तब ही स्वात्मानुभव होजाता है और परमानंदका स्वाद आता है। यह परमानंद ही वह शास्त्र है जो संसारके भ्रमण करानेवाले कर्मोंको क्षय करदेता है। वास्तवमें मोक्षका मार्ग स्वात्मानन्दमय है। जो राग द्वेष मोह त्यागेगा वह अवश्य इस मोक्षके कारणको पाकर संतोषी रहेगा।

धनकी असारता।

अर्थो मूलमनर्थानामर्थो निर्वृत्तिनाशनम्।
कषायोत्पादकश्चार्थो दुःखानां च विधायकः ॥ २३६ ॥

अन्वयार्थ-(अर्थः अनर्थानां मूलं) यह धन अनर्थोंका मूल है (अर्थः निर्वृत्तिनाशनम्) यह धन मोक्षका बाधक है, (अर्थः च कषायोत्पादकः) यह धन ही लोभादि कषायोंको बढ़ानेवाला है (दुःखानां च विधायकः) यह धन ही दुःखोंको लानेवाला है।

भावार्थ-लक्ष्मीके त्याग विना ममत्वका त्याग नहीं होसक्ता है। लक्ष्मी होनेहीसे विषय सामग्रीको एकत्र किया जाता है व उसके बढ़ानेकी चिन्ता व कम न होनेकी चिन्ता सताती है। लक्ष्मीके लोभसे अनेक अन्याय होजाते हैं, असत्य बोलकर ठगा जाता है, चोरी करली जाती है। लक्ष्मीका ममत्व न हटेगा तबतक निश्चल आत्मसमाधि प्राप्त न होगी। निश्चल समाधिके विना मोक्षके बाधक कर्मोंका नाश नहीं होसक्ता है। अतएव धन मोक्षमें अंतराय करता है। अर्थके निमित्तसे लोभ व मान होता है। मायाचार भी धनके लिये किया जाता है। जो बाधक होता है उसपर क्रोध भी आजाता है। धनके कारण यहां भी उपार्जन, रक्षण व व्ययकी आकुलता होती है। रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बंध होता है। कर्मोंके उदयसे संसारमें दुःखोंकी परम्परा चलती है।

प्राप्तोज्झितानि वित्तानि त्वया सर्वाणि संसृतौ।
पुनस्तेषु रतिः कष्टं भुक्तवान्त इवौदने ॥ २३७ ॥

अन्वयार्थ-(त्वया) तूने (संसृतौ) इस संसारमें (सर्वाणि वित्तानि) सर्व सम्पत्तिको (प्राप्तोज्झितानि) प्राप्त करके वारवार छोड़ा है (भुक्तवान्त ओदने इव) खाए हुए चावलको वमन हुएके समान (तेषु) उनही सम्पत्तियोंमें (पुनः रति) फिर आसक्ति करता है (कष्टं) बड़े दुःखकी बात है।

भावार्थ-संसारकी धन सम्पदा वारवार प्राणीने पाई है। संसारके भोग वारवार भोगे हैं। ये सर्व भोग सम्पदा खाकर वमन किये हुए भातके समान फिर भोग योग्य नहीं है। जैसे बुद्धिमान वमन किये हुए भातको नहीं खाता है वैसे हमें धन सम्पत्तिको ग्रहण करना योग्य नहीं है। यह संसारमें फँसानेवाली है।

को वा वित्तं समादाय परलोकं गतः पुमान्।
येन तृष्णाग्निसंतप्तः कर्म वध्नाति दारुणम् ॥ २३८ ॥

अन्वयार्थ-(कः वपुमान्) कौन ऐसा मानव है (वित्तं समादाय) जो धनको साथ लेकर (परलोकं गतः) परलोक गया है। (येन) जिस कारणसे (तृष्णाग्निसंतप्तः) यह तृष्णाकी आगसे जलता हुआ (दारुणं कर्म वध्नाति) तीव्र कर्म बांधता है।

भावार्थ-अज्ञानी मानव रातदिन धनकी तृष्णामें फंसा हुआ अपनी सर्व शक्ति व अपना सर्व समय धनके कमानेमें ही खर्च करता रहता है-आत्मकल्याण नहीं करता है। उसके लिये आचार्य कहते हैं कि जिस धनके तीव्र लोभमें पड़कर तू न्याय अन्यायका विचार छोड़कर जैसे तैसे धन कमाकर तीव्र पाप कर्म बांधता है वह धन इस शरीरके साथ रहेगा। परलोकमें किसीके साथ धन नहीं गया

है। परलोकमें तो पाप पुण्य साथ जायगा। इसलिये धनके पीछे पाप बांधकर परलोकमें कष्ट पाना मूर्खता है। अतएव संतोषपूर्वक न्यायसे धन कमाते हुए आत्महितके लिये पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। धनके संचय मात्रसे कुछ लाभ न होगा।

संतोषकी महिमा।

तृष्णान्धा नैव पश्यन्ति हितं वा यदि वाहितं।
संतोषांजनमासाद्य पश्यन्ति सुधियोः जनाः॥ २३९॥

अन्वयार्थ-(तृष्णान्धाः) जो मानव विषयभोगोंकी व धनकी तृष्णासे अन्धे हैं वे (हितं वा यदि वा अहितं नैव पश्यन्ति) न तो अपना हित विचारते हैं और न अहितको विचारते हैं (सुधियः जनाः) बुद्धिमान मनुष्य (संतोषांजनं आसाद्य) संतोषरूपी अंजन आंखमें लगाकर (पश्यन्ति) अपना सच्चा हित देखते रहते हैं।

भावार्थ—मानव वे ही हैं जो अपने आत्महितपर दृष्टिपात करें। बुद्धिवान मानवोंका यह प्रथम कर्तव्य होता है कि वे इस बातको जानले कि मेरे आत्माका हित काहेमें है या अहित काहेमें है इसलिये वे धनको संतोषके साथ कमाते हैं, अपना समय शास्त्राभ्यास, सत्संगति, तत्वविचार, आत्मध्यानके लिये अवश्य निकालते हैं। परन्तु जो धनके ही मोहमें उन्मत्त हैं वे कभी आत्माके हितको विचारते ही नहीं, वे वृथा जीवन खोकर दुर्गतिके पात्र होजाते हैं।

सन्तोषसारसद्रत्नं समादाय विचक्षणाः।
भवन्ति सुखिनो नित्यं मा: सन्मार्गवर्तिनः॥ २४०॥

अन्वयार्थ–(विचक्षणाः) बुद्धिमान पुरुष (संतोषसारसद्रत्नं समादाय) संतोषरूपी सार सच्चे रत्नको हृदयमें धारण करके (नित्यं मोक्षसन्मार्गवर्तिनः) नित्य मोक्षके सच्चे मार्गपर चलते हुए (सुखिनः भवन्ति) सुखी रहते हैं ।

भावार्थ–जो मानव अपने नर जन्मको सफल करना चाहते हैं, वे ही बुद्धिमान हैं, वे रत्नत्रय मार्गपर चलते हुए आत्मध्यानका व श्री जिनेन्द्र भक्तिका व दान परोपकारका व श्रावक या मुनिके व्रतोंका अभ्यास करते हैं, विषयभोगोंकी गृद्धताको त्याग देते हैं । परम संतोषरूपी रत्नको धारकर सदा सुखी रहते हैं । पुण्य कर्मके उदयसे जो भोजनपान मिल जाता है उसमें संतोष करते हुए जीवन बिताते हैं । उनका मुख्य लक्ष्य आत्माकी उन्नतिपर रहता है । गृहस्थावस्थामें भी वे सामायिक स्वाध्यायादि नित्य कर्मोंमें कभी प्रमाद नहीं करते हैं ।

तृष्णानलप्रदीप्तानां सुसौख्यं तु कुतो नृणाम् ।
दुःखमेव सदा तेषां ये रता धनसंचये ॥ २४१ ॥

अन्वयार्थ–(तृष्णानलप्रदीप्तानां नृणाम्) जो मानव तृष्णारूपी अग्निसे जलते रहते हैं उनको (कुतः सुसौख्यं) किस तरह उत्तम सुख प्राप्त होसक्ता है (ये धनसंचये रताः) जो धनके एकत्र करनेमें ही रत रहते हैं (तेषां सदा दुःखं एव) उनको सदा दुःख ही भोगना पड़ता है ।

भावार्थ–उत्तम सुख आत्माका स्वभाव है, इस सुखको वे ही प्राप्त कर सक्ते हैं जो सन्तोषी रहते हुए ध्यान स्वाध्याय व पूजा

पाठके लिये समय निकालते हैं, जो रातदिन धनकी तृष्णामें रत रहते हैं और धर्मका साधन नहीं करते हैं उनको उत्तम सुख तो प्राप्त ही नहीं होसक्ता है, इन्द्रियोंके सुखोंको वे कुछ पाते हैं, परन्तु आकुलताको बढ़ा लेते हैं, दुःख उनको अधिक रहता है, क्योंकि तृष्णा बढ़ती जाती है, इच्छानुकूल पदार्थ मिलते नहीं हैं व जो इष्ट पदार्थ होते हैं उनका वियोग होजाता है तब बहुत कष्ट पाते हैं। उनका जीवन निराशाजनक बीतता है। यदि गृहस्थजन सन्तोषसे रहें व धर्मको साधन करें तो बहुत अधिक मानसिक दुःखोंसे बच सक्ते हैं। उभय लोककी सिद्धि कर सक्ते हैं।

सन्तुष्टाः सुखिनो नित्यमसंतुष्टाः सुदुःखिताः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा संतोषे क्रियतां रतिः॥ २४२॥

अन्वयार्थ–(सन्तुष्टाः नित्यं सुखिनः) संतोषी जीव सदा सुखी रहते हैं (असंतुष्टाः सुदुःखिताः) जबकि असंतोषी दुःखी रहते हैं (उभयोः अन्तरं ज्ञात्वा) संतोषी तथा असंतोषीका अन्तर जानकर (संतोषे रतिः क्रियतां) संतोषमें प्रीति करनी योग्य है।

भावार्थ–जो संतोषी होते हैं वे प्राप्त इन्द्रियोंके विषयोंको मंद कषायसे भोग लेते हैं व सुखी रहते हैं। जो प्राप्त विषयोंको पसंद नहीं करते हैं, मनोज्ञ विषयोंकी इच्छा करते हैं वे इच्छानुकूल न पाकर दुःखी रहते हैं। यदि कदाचित् कोई पदार्थ इच्छानुकूल मिल भी जाता है तौ उनकी तृष्णा उससे उत्तम पदार्थकी तरफ बढ़ जाती है। जबतक वह पदार्थ नहीं मिलता है तबतक दुःखी रहते हैं। यदि वह मिल गया तो और तृष्णा बढ़ जाती है। इस तरह

उनका जीवन तृष्णाकी ज्वालासे जलता हुआ ही बीतता है। वे सांसारिक सुखको भी बहुत अल्प पाते हैं। आत्मिक सुख तो उनको कभी प्राप्त नहीं होता है।

द्रव्याशां दूरतस्त्यक्त्वा संतोषं कुरु सन्मते।
मा पुनर्दीर्घसंसारे पर्यटिष्यसि निश्चितम्॥ २४३॥

अन्वयार्थ-(सन्मते) हे सद्बुद्धि धारक भाई (द्रव्याशां दूरतः त्यक्त्वा) द्रव्यकी आशा दूरसे छोड़कर (संतोषं कुरु) संतोष मनमें धारण कर (मा पुनः) नहीं तो (दीर्घसंसारे) इस महान् संसारमें (निश्चितम् पर्यटिष्यति) तू निश्चयसे भ्रमण करेगा।

भावार्थ-जो प्राणी द्रव्यादि बाहरी पदार्थकी तृष्णामें फँसा रहता है वह कदापि मोक्षका व मोक्षमार्गका प्रेमी नहीं होसक्ता है अतएव आचार्य कहते हैं कि द्रव्यके संचयकी तृष्णा छोड़कर सन्तोषपूर्वक धर्मको साधन करते हुए गृहस्थमें रह। धर्मसाधनके लिये समय निकाल कर जीवन बिता। जो धनकी तृष्णामें फँसकर धर्मके पालनमें प्रमाद किया जायगा तो उसका फल यही होगा कि इस जीवको अनन्तकाल तक संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा। धर्मसाधनके समयको छोड़कर जो पैसा कमानेके लिये समय नियत हो उसमें न्यायपूर्वक आजीविकाका साधन करे अधिक व कम जो प्राप्त हो उसमें संतोष रक्खे। दान धर्ममें द्रव्यको लगाकर सफल करे।

ईश्वरो नाम संतोषी योऽप्रार्थयते परम्।
प्रार्थना महतामत्र परं दारिद्र्यकारणम्॥ २४४॥

अन्वयार्थ-(यः संतोषी) जो संतोषी प्राणी (परं अप्रार्थयते)

दूसरेसे याचना नहीं करता है (ईश्वरः) वही श्रेष्ठ पुरुष है (अत्र) इस लोकमें (महतां प्रार्थना) बड़े लोगोंसे याचना करना (परं दारिद्र्यकारणम्) घोर दलिद्रका कारण है।

भावार्थ—पुरुषको उचित है कि न्यायपूर्वक आजीविका करके जो कुछ कम व अधिक मिले उसीमें सन्तोष रक्खे। बहुत सादगीसे रहे, किसीसे पैसेकी याचना न करे। जो याचना करेगा वह दीन होजायगा। उसकी आदत खराब होनेसे वह तीव्र लोभी बन जायगा व उसका मन आजीविकामें नहीं लगेगा। तब वह कमा नहीं सकेगा। याचनासे पैसा मिलेगा तो वह दरिद्री होजायगा। तथा बहु लोभसे पाप बांधकर परलोकमें भी द्रव्यहीन होगा। अतएव जो याचना करता है वह लघु होजाता है, जो याचना नहीं करता है वह लघु होनेपर भी बड़ा आदमी है।

हृदयं दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णाग्निपरितापितं।
न शक्यं शमनं कर्तुं विना संतोषवारिणा॥ ४५॥

अन्वयार्थ—(तृष्णाग्निपरितापितं) तृष्णाकी आगमे पीड़ित (हृदयं) मन (अत्यर्थं दह्यते) अतिशय करके जला करता है (संतोषवारिणा विना) संतोषरूपी जलके विना शमनं कर्तुं न शक्यं) उस जलनका शमन नहीं किया जा सक्ता।

भावार्थ—धनादि सामग्री मिलनेपर भी असंतोषीका मन कभी तृप्ति नहीं पाता, किन्तु अधिक २ तृष्णाके तापमे जला करता है। जबतक संतोषरूपी जलका सिंचन न किया जावे तबतक तृष्णाकी आग बुझ नहीं सक्ती है। अतएव जीवनको सुखी करना हो तो

संतोषामृतका पान करके अपना धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ साधन करे। आलसी न बने।

यैः संतोषामृतं पीतं निर्ममत्वेन वासितं।
त्यक्तं तैर्मानसं दुःखं दुर्जनेनेव सौहृदं ॥ २४६ ॥

अन्वयार्थ-(यैः) जिन्होंने (निर्ममत्वेन वासितं) ममता रहित भावसे (संतोषामृतं पीतं) संतोषरूपी अमृतका पान किया है (तैः) उन्होंने (मानसं दुःखं त्यक्तं) सर्व मानसीक दुःखका त्याग कर दिया है (दुर्जनेन इव सौहृदं) जैसे दुर्जनके साथ मित्रता छूट जाती है।

भावार्थ-सर्व प्रकार मानसीक क्लेशका कारण धनादि पदार्थोंकी तृष्णा है। जिन्होंने तृष्णा छोड़कर संतोष धारण कर लिया है उन्होंने सर्व दुःखोंका अंत कर दिया। वे थोड़ा धन पानेपर भी सुखी हैं। धनकी हानिमें भी घबड़ाते नहीं हैं। वे पाप पुण्यके आधीन लक्ष्मीका न होना व होना मानते हैं। अतएव सदा सुखी रहते हैं। जैसे दुर्जनके साथ मित्रता छूट जाती है ऐसे ही सर्व दुःख छूट जाते हैं।

यैः संतोषामृतं पीतं तृष्णातृट्प्रणाशनं।
तैश्च निर्वाणसौख्यस्य कारणम् समुपार्जितम् ॥२४७॥

अन्वयार्थ-(यैः) जिन्होंने (तृष्णातृट्प्रणाशनं) तृष्णाकी प्यासको बुझानेवाले (संतोषामृतं) संतोषरूपी अमृतको (पीतं) पिया है (तैः च) उन्होंने ही (निर्वाणसौख्यस्य) निर्वाण सुखके (कारणं) कारणको (समुपार्जितम्) प्राप्त कर लिया है।

भावार्थ-परिग्रहकी तृष्णा लोभको बढ़नेवाली है। लोभसे

मान, माया क्रोध भी आजाते हैं। जिसने परिग्रहको त्यागा उसने तृष्णाको त्यागा। उसीके भावोंमें सच्चा निर्ग्रंथ भाव रहेगा, उसीके पास संतोषामृत भरा मिलेगा, वही सदा उसी अमृतका पान करेगा। जो तृष्णाके विजयी परम सन्तोषी साधु हैं वे भोजनपानके लोभमें व अलोभमें समभाव रखते हैं। वे ही रत्नत्रय धर्मके साधनके प्रेमी होकर मोक्षमार्गपर चलकर उसे पाजाते हैं।

संतोषं लोभनाशाय धृतिं च सुखशान्तये।
ज्ञानं च तपसा वृद्धौ धारयन्ति दिगम्बराः॥ २४८॥

अन्वयार्थ—(दिगम्बराः) परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि (लोभनाशाय सन्तोषं) लोभके नाशके लिये सन्तोषको (सुख-शांतये धृतिं) सुख शांतिके लिये धैर्यको (तपसां वृद्धौ ज्ञानं च) तपकी वृद्धिके लिये ज्ञानको (धारयंति) धारण करते हैं।

भावार्थ—मोक्षका मार्ग पूर्ण रीतिसे दिगम्बर मुनि ही धारण कर सक्ते हैं। वे लोभ कषायको आत्माका शत्रु जानकर सन्तोषसे उसको जीतते हैं। जो आहार मिल जाता है उसमें राजी रहते हैं। रसास्वादकी चाह नहीं रखते हैं। जब परीषहोंको धैर्यसे सहन कर निज आत्म-स्वरूपमें थिरता रक्खी जायगी तब ही सुख शांति मिलेगी। इसलिये वे धैर्य रखते हैं। तपकी वृद्धि ज्ञानके द्वारा होती है। जितना शास्त्रका अधिक ज्ञान होगा उतना ही अधिक इच्छा निरोध तप होसकेगा। इसलिये साधुजन परमागमका अभ्यास सदा करते रहते हैं।

ध्यानका साधन ।

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ २४९ ॥

अन्वयार्थ—साधुजन ध्यानके समय ऐसा विचारते हैं कि (मम आत्मा) मेरा आत्मा (एकः च) एक अकेला ही है (ध्रुवः) अविनाशी है (ज्ञानदर्शनसम्पनः) ज्ञानदर्शन स्वरूप है (शेषा भावाः) मेरे शुद्धात्माके भावको छोडकर जितने भी रागादि भाव हैं (सर्वे संयोगलक्षणाः) सर्व पुद्गलके संयोगसे होते हैं अतएव (मे बाह्याः) मेरे आत्मासे बाहर हैं ।

भावार्थ—ज्ञानीको तत्वके मननको करते हुए निश्चय नयसे अपने आत्मद्रव्यका जो स्वभाव है उसे ही बारबार विचारना चाहिये । यह आत्मा द्रव्य अविनाशी है, एकरूप है, ज्ञातादृष्टा परम वीतराग व आनंदमई सिद्ध भगवानके समान है । चार गति सम्बन्धी सर्व पर्यायें व सर्व राग द्वेषादि विभाव भाव आठ कर्मोंके संयोगोंसे जीवमें होते हैं । शुद्ध जीवमें नहीं पाए जाते हैं । अतएव वे सब मेरे नहीं हैं । न आठ कर्म मेरे हैं, न रागादि भावकर्म मेरे हैं, न शरीरादि नोकर्म मेरे हैं ।

संयोगमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात् संयोगसम्बन्धं त्रिविधेन परित्यजेत् ॥ २५० ॥

अन्वयार्थ—ध्यानके समय योगी विचारे कि (संयोगमूल जीवेन) अनादि कालसे पुद्गलके संयोगसे (दुःखपरम्परा प्राप्ता) मैंने दुःखोंको प्राप्त किया है (तस्मात्) इसलिये (त्रिविधेन)

मन वचन काय तीनोंसे (संयोगसम्बन्धं परित्यजेत्) इस पुद्गलका संयोग छोड़ देना चाहिये।

भावार्थ-योगी सर्व गुणस्थान मार्गणास्थान आदि सांसारिक अवस्थाओंको कर्मोदयजनित जानकर उनसे बिलकुल ममता छोड़ देता है। एक अपने आत्माके द्रव्य गुण पर्यायको अपना ग्रहण कर लेता है। उनके संयोगसे ही जीवने कष्ट उठाए हैं। इसलिये स्वातंत्र्य-प्रेमी सर्व परसे नाता तोड़ देता है।

ये हि जीवादयो भावाः सर्वज्ञैर्भाषिताः पुरा।
अन्यथा च क्रियास्तेषां चिंताऽत्र निरर्थकाः॥ २५१॥

अन्वयार्थ-(ये हि जीवादयः भावाः) जो जीवादि द्रव्य (पुरा) प्राचीन कालमें (सर्वज्ञैः भाषिताः) सर्वज्ञों द्वारा उपदेश किये गए हैं (तेषां अन्यथा क्रियाः) उससे अन्य प्रकारकी क्रिया हो (चिंताऽत्र निरर्थका) यह चिंता यहां व्यर्थ है।

भावार्थ-इस श्लोकमें कुछ अशुद्धि माल्रम होती है। जो भाव समझमें आया है वह लिखा जाता है। सर्वज्ञोंने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल इन छः द्रव्योंको सत्‌रूप अनादि अनंत बताया है। इसका जो मूल स्वभाव है वह कभी और रूप नहीं होसक्ता। सर्व द्रव्य अपने२ स्वभावमें ही रहे हुए शोभाको पाते हैं। और प्रकार किसी द्रव्यका होना, विचारना व्यर्थ है। जीव कभी पुद्गल नहीं होसक्ता, पुद्गल कभी जीव नहीं होसक्ता, तब बुद्धिमानको उचित है कि अपने मूल आत्मद्रव्यके स्वभावको ही अपना माने, पुद्गलकी किसी भी परिणतिको अपना न माने।

यथा च कुरुते जन्तुर्ममत्वं विपरीतधीः।
तथा हि बन्धमायाति कर्मणस्तु समन्ततः॥ २५२॥

अन्वयार्थ–(विपरीतधीः जन्तु) विपरीत बुद्धिधारी मानव (यथा च ममत्वं कुरुते) जैसे२ पर पदार्थमें ममता करता है (तथा हि तु समन्ततः कर्मणः बंधं आयाति, वैसे २ यह सर्व तरफसे कर्मके बंधको प्राप्त होता है।

भावार्थ–कर्मोंके बंधका कारण परमें ममत्व है, रागद्वेष है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी परमें ममता करता हुआ कर्मोंसे बंध जाता है। इसलिये सम्यग्दृष्टी ज्ञानी सर्वसे ममत्व छोड़कर एक अपने आत्मद्रव्यसे ही हित करते हैं। आत्मानन्दमें मगन रहते हैं। अतएव वे कर्मोंकी निर्जरा करते हुये मोक्षकी तरफ बढ़े जारहे हैं।

अज्ञानावृत्तचित्तानां रागद्वेषरतात्मनाम्।
आरम्भेषु प्रवृत्तानां हितं तत्र न भीतवत्॥ २५३॥

अन्वयार्थ–(अज्ञानावृत्तचित्तानां) जिनका मन अज्ञानसे ढका हुआ है (रागद्वेषरतात्मनाम्) जो रागद्वेष भावोंमें रत हैं (आरम्भेषु प्रवृत्तानां) जो संसारके आरम्भ करनेमें लग रहे हैं (हितं तत्र न भीतवत्) उनका हित नहीं होसक्ता है। जैसे कायरका हित नहीं होसक्ता है।

भावार्थ–कायर या डरपोक मानव युद्धमें सफलता नहीं पा सक्ता है। इसी तरह जो आत्माका हित तो करना चाहे परन्तु आत्महितके साधनोंमें अपनेको न लगावे, किन्तु उसके विरुद्ध बर्तन करे तो उसका हित कैसे होसक्ता है। शास्त्र ज्ञानका अभाव, गृहा-

रम्भमें आसक्ति, रागद्वेषमें तल्लीनता ये ही संसारके बढ़ानेवाले हैं। जो मोक्षका साधन करना चाहें उन्हें तो उल्टे कारणोंसे बचना चाहिये।

परिग्रहपरिष्वङ्गाद्रागद्वेषश्च जायते।
रागद्वेषौ महाबन्धः कर्मणां भवकारणम्॥ २५४॥

अन्वयार्थ—(परिग्रहपरिष्वंगात्) परिग्रहोंको स्वीकार करनेसे (रागद्वेषः च जायते) राग और द्वेष उत्पन्न होता ही है (रागद्वेषौ कर्मणां महाबन्धः) राग द्वेष ही कर्मोंके महान् बंधके कारण हैं (भवकारणम्) इनहीसे संसार बढता है।

भावार्थ—राग द्वेषको त्याग करके वीतरागभावमें रमन करनेसे आत्माका सच्चा हित होसक्ता है। अतएव मोक्षकी जिसके भावना है उसको राग द्वेषके उत्पन्न होनेके कारण धनधान्यादि परिग्रहोंका भी त्याग कर देना चाहिये, तब ही बन्ध न होकर पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होगी। परिग्रह ध्यानकी सिद्धिमें बाधक है।

सर्वसंगान् पशून् कृत्वा ध्यानाग्निनाहुतिं क्षिपेत्।
कर्माणि समिधश्चैव योगोऽयं सुमहाफलम्॥२५५॥

अन्वयार्थ—(ध्यानाग्निना) ध्यानरूपी अग्निके द्वारा (कर्माणि समिधः च एव) कर्मोंके यज्ञमें होमनेकी लकड़ी मानकर जलावे (सर्वसंगान् पशून् कृत्वा आहुतिं क्षिपेत) सर्व अंतरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रहोंको पशु मानकर उनकी आहुति डाले (अयं योगः सु महाफलं) यह योगाभ्यासका यज्ञ महा फलदाई है।

भावार्थ—पशु यज्ञ जब हिंसाकारी पाप बंधकारक है तब परिग्रहरूपी पशुओंको होमनेका यज्ञ मोक्षका साधक है। ज्ञानीको

उचित है कि आत्मध्यानकी अग्नि जलावे, उससे कर्मोंके ईंधनको जलावे तथा उसीमें परिग्रहकी आहुति देवे। इस यज्ञसे आत्मा शुद्ध होजाता है। परिग्रहकी ममता छोड़े विना आत्मयज्ञ नहीं होसक्ता है।

राजसूयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च।
अनन्तभागतुल्यानि न स्युस्तेन कदाचन॥ २९६॥

अन्वयार्थ—(राजसूयसहस्राणि) हजारों राजसूय यज्ञ किये जावें (अश्वमेधशतानि च) व सैकड़ों अश्वमेध यज्ञ किये जावें (तेन अनन्तभागतुल्यानि कदाचन न स्युः) तौ भी उनका फल इस ऊपर लिखित आत्मयज्ञके अनन्तवें भागके बराबर भी कभी नहीं हो सक्ता है।

भावार्थ—कोई २ राजा लोग राज्याभिषेकके समय मीमांसक मतके अनुसार राजसूय यज्ञ करते थे व कभी२ अश्वमेध यज्ञ करते थे जिसमें घोड़ोंकी बलि होती थी। इन यज्ञोंके करनेसे पुण्य नहीं होता; किन्तु हिंसाका कारण पाप ही बंध होता है। जो कोई ऐसे यज्ञोंके करनेसे सुख माने उसके लिये आचार्य कहते हैं कि हजारों ऐसे यज्ञोंका फल बहुत तुच्छ है उससे अनन्तगुणा फल आत्मयज्ञमें है, जिसमें आत्मध्यानकी अग्निद्वारा कर्मोंको व राग द्वेषको जलाया जावे।

ध्यानीकी महिलाएँ।

सा प्रज्ञा या शमे याति विनियोगपुराहिता।
शेषा च निर्दया प्रज्ञा कर्मोपार्जनकारिणी ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थ--(सा प्रज्ञा शमे याति) वही विवेक बुद्धि शांतिकी तरफ लेजाती है (या हिता विनियोगपरा) जो वैराग्यके भीतर तत्पर है (शेषा च प्रज्ञा कर्मोपार्जनकारिणी निर्दया) उसके सिवाय जो बुद्धि रागद्वेषमें लवलीन है वह कर्मोंका बन्ध करनेवाली है व आत्माकी दयासे शून्य है।

भावार्थ--आत्मा व अनात्माके विवेकको प्रज्ञा कहते हैं। ऐसी प्रज्ञाको पाकर जो कोई अनात्मासे विरक्त होकर अपने आत्मामें लवलीन रहता है उसीकी प्रज्ञा मोक्ष साधक है। जो आत्मा व अनात्माका भेद पाकरके भी निश्चयनयका एकांत पकड़ ले कि आत्मा तो सदा अबंधक ही है, न इसके पापका बन्ध है न पुण्यका बन्ध है, पुद्गलकी करणीसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा एकांत पकड़ कर स्वच्छन्द होजावे, आचरण भ्रष्ट होजावे, विषयभोगोंमें रत होजावे तो वह रागद्वेषोंके वर्तनसे पापका ही बंध करेगा। बंध रहित वही होगा जो विवेक होनेपर सर्व परसे वैराग्यभाव रखकर निजात्माका ही ध्यान करे।

प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या पुरुषेण सुखावहा।
हेयोपादेयतत्वज्ञा याऽरता सर्वकर्मणि ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थ--(पुरुषेण) पुरुषको उचित है कि (प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या) प्रज्ञारूपी स्त्रीकी सदा सेवा करे (या) जो (सुखा-

वहा) सुख देनेवाली है (हेयोपादेयतत्वज्ञा) त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्वको जाननेवाली है (सर्वकर्मणि याऽगता) जो सर्व मन, वचन, कायके कार्योंमें रत नहीं है।

भावार्थ-ध्यानीके लिये प्रज्ञाकी बहुत बड़ी आवश्यक्ता है, प्रज्ञा भेदविज्ञानको कहते हैं। भेदविज्ञानसे ही आत्मा सर्व पुद्गल धर्म, अधर्म, काल, आकाशसे व अन्य आत्माओंसे तथा द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि व नोकर्म शरीरादिसे भिन्न अनुभवमें आता है। जब धानके भीतर चावल व छिलका अलग अलग दीखता है तब ही छिलकेसे चावलको अलग किया जासक्ता है। इसीके प्रतापसे अपने शुद्धात्माका भिन्न ज्ञान होकर उसकी रुचि होती है। जब शुद्धात्माकी रुचि होजाती है तब उपयोग मन, वचन, कायकी क्रियाओंमें रत न होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें ही रत होता है। जिससे परमानन्दका लाभ होता है।

दयाङ्गना सदा सेव्या सर्वकामफलप्रदा।
सेवितासौ करोत्याशु मानसं करुणात्मन् ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थ-(सर्वकामफलप्रदा) सर्वकामनाओंके फलको देनेवाली (दयांगना) दयारूपी स्त्री (सदा सेव्या) की सदा सेवा करनी चाहिये (असौ) यह दया (सेविता) सेवन की हुई (आशु) शीघ्र ही (मानसं करुणात्मनम् करोति) मनको दयाभावसे पूर्ण कर देती है।

भावार्थ-ज्ञानी पुरुषको ध्यानके लिये दया नामकी स्त्रीका सेवन करना चाहिये जिससे सर्व जीवोंको उसके द्वारा कष्ट न पहुंचे

प्रत्युत सर्वकी रक्षाका यत्न होसके। दयावान प्राणी किसीका बुरा नहीं विचारता है। चित्त कोमल रहता है तब ध्यान सिद्ध होता है। दयाभावसे पुण्यबंध भी होता है, जिससे साताकारी पदार्थ प्राप्त होते हैं।

मैत्र्यङ्गना सदोपास्या हृदयानन्दकारिणी।
या विधत्ते कृतोपास्तिश्चित्तं विद्वेषवर्जितं ॥ २६० ॥

अन्वयार्थ–(हृदयानंदकारिणी) मनको आनंद देनेवाली (मैत्र्यंगना) मैत्रीरूपी स्त्री (सदा उपास्या) की सदा सेवा करनी चाहिये (या) जो (कृतोपास्तिः) उपासना किये जानेपर (विद्वेष वर्जितं चित्तं विधत्ते) द्वेष रहित चित्त बना देती है।

भावार्थ–ध्यानीकी तीसरी स्त्री मैत्री है। सर्व जीवोंपर मैत्रीभाव रखनेसे द्वेषभाव मिट जाता है, मनमें आनन्द रहता है, कोमलभाव होजाता है, महान पुण्यमयी बंध होता है।

सर्वसत्वे दयां मैत्रीं यः करोति सुमानसः।
जयत्यसावरीन् सर्वान् बाह्याभ्यन्तरसंस्थितान् ॥२६१॥

अन्वयार्थ–(यः सुमानसः) जो सुंदर मनका धारक (सर्वसत्वे) सब प्राणियोंमें (दयां मैत्रीं करोति) दया व मैत्रीभाव करता है (असौ) वह (बाह्याभ्यंतरसंस्थितान्) बाहरी और भीतरी रहनेवाले (सर्वान् अरीन्) सर्व शत्रुओंको (जयति) जीत लेता है।

भावार्थ–इस जीवके बाहरी शत्रु अन्य मानव होसक्ते हैं व अन्तरङ्ग शत्रु क्रोध मान माया लोभादि हैं। इन दोनोंके जीतनेका उपाय दया और मैत्रीभाव है। जो दयावान और मैत्रीभावके धारी

होते हैं वे शत्रुओंको भी वश कर लेते हैं तथा उनके कषाय मन्द रहेंगी, वे धर्म साधनकर कषायोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंको जला सकते हैं।

शमं नयन्ति भूतानि ये शक्ता देशनाविधौ।
कालादिलब्धियुक्तस्य प्रत्यहं तस्य निर्जरा॥ २६२॥

अन्वयार्थ-(ये देशनाविधौ शक्ताः) जो धर्मोपदेश देनेमें लीन हैं (भूतानि शमं नयन्ति) वे प्राणियोंको शांतभावमें लेजाते हैं (कालादिलब्धियुक्तस्य तस्य) उस महात्माके काललब्धिके होने पर जब स्वात्मानुभवकी अधिक जागृति होती है तब उसके (प्रत्यहं निर्जरा) सदा ही कर्मोंकी निर्जरा होती है।

भावार्थ-जो स्वयं शांत परिणामी हैं और दूसरोंको धर्मोपदेश देकर शांत भावमें लानेका उपदेश देते हैं वे मैत्री, दया व प्रज्ञाको रखते हुए जब जब आत्मध्यानमें मग्न होते हैं तब तब उनके कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है। कषायोंका शमन ही ध्यानकी सिद्धिका कारण है, ध्यानसे ही कर्म झड़ते हैं।

शमो हि न भवेद्येषां ते नराः पशुसन्निभाः।
समृद्धा अपि तच्छास्त्रे कामार्थरतिसंगिनः॥ २६३॥

अन्वयार्थ-(येषां नहि शमः भवेत्) जिन मानवोंके भीतर शांत भाव नहीं होता है (ते नराः पशुसन्निभाः) वे मानव पशुओंके समान हैं (तच्छास्त्रे समृद्धाः अपि) यद्यपि वे शास्त्रोंके ज्ञाता हैं (कामार्थरतिसंगिनः) तथापि वे काम भाव व द्रव्यकी आसक्तिमें ग्रसित हैं।

भावार्थ-जब तक कषाय मंद न हो, परिणामोंमें शान्ति न हो, तब तक मानवपनेकी ही शोभा नहीं है। फिर जो शास्त्रोंके ज्ञाता होकर भी रात दिन पैसा कमानेमें व विषय भोगोंमें अनुरक्त रहें तो उनको क्या कहना। शांत भावके विना मानव पशुके तुल्य हैं।

चित्रं नरकतिर्यक्षु भ्रमतोऽपि निरंतरं।
जन्तोः सुविद्यते नैव समो दुरितवन्धिनः॥ २६४॥

अन्वयार्थ-(निरंतरं नरकतिर्यक्षु भ्रमतः अपि) निरंतर नरक गतिमें और पशुगतिमें भ्रमण करते हुए भी (दुरितबन्धिनः) पापोंको बांधनेवाले (जन्तोः) जीवके (सुसमः नैव विद्यते चित्रं) समता भाव नहीं आता है यही आश्चर्य है।

भावार्थ-जो वारवार बहुत दुःख उठावे उसे समझकर फिर ऐसा काम नहीं करना चाहिये जो दुःखदाई हो। परन्तु मोहकी बड़ी महिमा है जो मानवको मूढ़ बना देती है। वह वारवार वही काम करता है जिसमें दुःख पाता है। इस जीवने मोहके कारण पाप बांधकर नरक पशुगतिमें बहुत दुःख उठाए तो भी यह अपने परिणामोंको वैराग्यवान नहीं बनाता है और समताका सेवन नहीं करता है।

मनस्याल्हादिनी सेव्य सर्वकालसुखप्रदा।
उपसेव्या त्वया भद्र! क्षमा नाम कुलाङ्गना॥ २६५॥

अन्वयार्थ-(भद्र) हे भव्यजीव! (मनस्य आल्हादिनी) मनको प्रसन्न रखनेवाली (सर्वकालसुखप्रदा) सर्व कालमें सुख देनेवाली (सेव्या) सबने योग्य (क्षमा नाम कुलांगना) क्षमा

क्षमा नामा कुलस्त्री (त्वया उवसेव्या) तुझे वारवार सेवनी चाहिये।

भावार्थ-उत्तम क्षमा साधु महात्माकी परम प्यारी स्त्री होती है। साधु गाली सुननेपर व कष्ट दिये जानेपर भी क्रोधभाव नहीं करते हैं, क्षमाभाव धारण करते हैं। इससे उनका मन कभी क्लेशित नहीं होता है। सदा ही उनके मनमें सन्तोष व सुख रहता है। क्षमाकी वे सदा ही सेवा करते हैं, वे जगत मात्रके प्राणियोंपर क्षमाभाव धारण करते हैं। क्षमा ही वीर पुरुषोंका आभूषण है।

क्षमया क्षीयते कर्म दुःखदं पूर्वसंचितम्।
चित्तं च जायते शुद्धिं विद्वेषभयवर्जितम् ॥ २६६ ॥

अन्वयार्थ-(क्षमया) उत्तम क्षमाके प्रतापसे (पूर्वसंचितं) पूर्वकालमें बांधा हुआ (दुःखदं कर्म) दुःखदाई कर्म (क्षीयते) क्षय होजाता है (चित्तं विद्वेषभयवर्जितम् शुद्धं च जायते) तथा चित्तमेंसे द्वेष या भय निकल जाता है. चित्त शुद्ध होजाता है।

भावार्थ-जो महात्मा क्रोध नहीं करते हैं उनको सबके साथ मैत्री भाव होता है, वे सदा शांत रहते हैं। क्रोधके कारण होनेपर भी क्रोध नहीं करते। उनका जब वैर किसीसे नहीं होता है तब उनके भीतरसे द्वेष या भय निकल जाता है। मनमें सदा शुद्धि बनी रहती है। न वे अहंकार करते हैं न वे द्वेष करते हैं।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ॥२६७॥

अन्वयार्थ-ज्ञानीको उचित है कि (सिद्धिसौख्यसुखप्रदा) सिद्धिके अनुपम सुखको देनेवाली इन (प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता

करुणा क्षमा) प्रज्ञा, मैत्री, समता, दया और क्षमा इन पांचों स्त्रियोंको (सम्यक्तसहिता सेव्या) सम्यग्दर्शन सहित सेवन करें ।

भावार्थ–जो महात्मा साधु मोक्षसुखको प्राप्त करना चाहें उनको उचित है कि सम्यग्दर्शनको दृढतासे पालते हुए भेदविज्ञानसे आत्माको अनात्मासे भिन्न विचारे, प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव रक्खे, राग द्वेष टालकर समभावका अभ्यास करे, दुःखी प्राणियोंपर करुणाभाव रक्खे तथा द्वेष करनेवाले व विरोध करनेवालों पर उत्तम-क्षमाभाव रक्खे । इनही सखियोंके सहारे वे मोक्षनगरको जासकेंगे ।

सत्संगति ।

भयं याहि भवाद् भीमात् प्रीतिं च जिनशासने ।
शोकं पूर्वकृतात्पापाद्यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥ २६८ ॥

अन्वयार्थ–(भीमात् भवात् भयं याहि) इस भयानक संसारके दुःखोंसे भय कर (जिनशासने च प्रीतिं) जिन शासनमें प्रेम कर (पूर्वकृतात् पापात् शोकं) पूर्व किये हुए पापसे शोक कर (यदि आत्मनः हितं इच्छेत्) यदि आत्माका हित भव्यजीव करना चाहता है।

भावार्थ–आत्माका हित कर्मोंसे छूटकर स्वाधीन होनेमें है। तब उसके लिये इस चातुर्गतिमय संसारमें मेरा पतन न हो ऐसे कार्योंसे भयभीत रहना योग्य है तथा जिनवाणीका पठनपाठन करके धर्मको यथार्थ समझना योग्य है। तथा पूर्व किये हुए पापोंका पश्चात्ताप करके आगेसे बचनेकी भावना करनी योग्य है ।

कुसंसर्गः सदा त्याज्यो दोषाणां प्रविधायकः ।
स गुणोऽपि जनस्तेन लघुतां याति तत् क्षणात् ॥२६९॥

अन्वयार्थ-(दोषाणां प्रविधायकः) दोषोंको उत्पन्न करनेवाली (कुसंसर्गः) कुसंगतिको (सदा त्याज्यः) सदा छोडना योग्य है (तेन) उस कुसंगतिसे (सगुणः अपि जनः) गुणी मानव भी (तत्क्षणात् लघुतां याति)दमभरमें हलका होजाता है।

भावार्थ-परिणामोंकी उच्चता रखनेके लिये धर्मात्मा व ज्ञानी पुरुषोंकी संगति करनी योग्य है। दुराचारी, मिथ्यादृष्टी, व्यसनी, रागी पुरुषोंकी संगतिसे महान सदाचारी व गुणवान पुरुष भी कलंकित होजाता है। संगतिसे दोषोंकी छाप पड़ जाती है। अतएव सदा ही संतोंकी संगति वांछनीय है।

सत्सङ्गो हि बुधैः कार्यः सर्वकालसुखप्रदः।
तेनैव गुरुतां याति गुणहीनोऽपि मानवः॥ २७० ॥

अन्वयार्थ-(बुधैः सर्वकालसुखप्रदः सत्संगः हि कार्यः) बुद्धिमानोंको सदा सुखदाई सत्संगति ही करना योग्य है (तेन एव) उसीसे ही (गुणहीनः अपि मानवः गुरुतां याति) गुण रहित पुरुष भी महानपनेको प्राप्त होजाता है।

भावार्थ-धर्मात्मा सज्जन सदाचारी व ज्ञानी मानवोंकी संगति सदा सुख देनेवाली होती है। ऐसी संगतिमें बैठनेसे गुणहीनके औगुण चले जाते हैं और गुणोंकी प्राप्ति होजाती है। मोक्षमार्गमें जो चलना चाहे उसके लिये ऐसे देव गुरु शास्त्रकी संगति रखनी योग्य है जिससे वीतराग विज्ञान महा धर्मकी छाप हृदयपर पड़े।

साधूनां खलसंगेन चेतिश्च मलिनं भवेत्।
सैंहकेयसमासत्त्या छायानाथपि क्षयः॥ २७१ ॥

अन्वयार्थ-(साधूनां चेष्टितं खलसंगेन मलिनं भवेत्) साधुओंका चारित्र दुष्टकी संगतिसे मैला होजाता है (सैंहिकेय समासक्त्या) सिंहके बच्चेकी निकटतासे (छागानां अपि क्षयः) बकरोंका भी नाश होजाता है।

भावार्थ-साधुओंको सदा साधुओंकी सज्जनोंकी धर्मात्माओंकी ही संगति करनी योग्य है। यदि वे दुष्टोंकी, दुराचारियोंकी, विषयलम्पटियोंकी संगति करेंगे तो साधुओंके चारित्रमें कमी आसक्ती है। सिंहके बच्चोंके साथ बकरोंका नाश होना स्वाभाविक है।

रागादयो महादोषाः खलास्ते गदिताः बुधैः।
तेषां समाश्रयस्त्याज्यस्तत्वविद्भिः सदा नरैः॥ ९७॥

अन्वयार्थ-(रागादयो महादोषाः ते खलाः बुधैः गदिताः) रागद्वेषादि महान दोष हैं, ये ही दुष्ट हैं ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। (तत्वविद्भिः नरैः सदा तेषां समाश्रयः त्याज्यः) तब तत्वज्ञानियोंको उचित है कि वे उनका संग सदाके लिये छोड़ दें।

भावार्थ-आत्माके ज्ञान, सम्यक्त, वीर्य, चारित्र, सुख आदि गुणोंको मलीन करनेवाली रागद्वेषादि कषाय हैं। ये ही महान दुष्ट हैं, वैरी हैं। जितना जितना इनका प्रसंग किया जाता है आत्मा बंधको प्राप्त होता है। संसारमें भ्रमण करानेवाले ये ही दुष्ट राग द्वेष मोह हैं। अतएव तत्वज्ञानी महात्माओंको कर्मबंधसे बचनेके लिये व सुखशांति पानेके लिये इनकी संगति छोड़कर समताभावकी संगति करनी चाहिये। वीतरागतामें तन्मय रहना योग्य है।

गुण पूज्य होते हैं।

गुणाः सुपूजिता लोके गुणाः कल्याणकारकाः ।
गुणहीना हि लोकेऽस्मिन् महान्तोऽपि मलीमसाः ॥२७३॥

अन्वयार्थ—(गुणाः लोके सुपूजिताः) गुण ही लोकमें पूजे जाते हैं (गुणाः कल्याणकारकाः) गुण ही कल्याणकारी होते हैं (अस्मिन् लोके हि, इस लोकमें निश्चयसे (महान्तः अपि गुणहीनाः मलीमसाः) महान पुरुष भी यदि गुणहीन हों तो मलीन या नीच माने जाते हैं ।

भावार्थ—जगतमें कोई व्यक्ति माननीय नहीं है । व्यक्तिके भीतर यदि गुण हों तो उसकी मान्यता होती है । गुणोंकी कदर जगतमें होती है । यदि कोई बड़े कुलमें पैदा हुआ हो धनवान हो परन्तु गुण रहित हो, विद्याहीन हो, धर्महीन हो तो वह जगतमें माननीय नहीं होता है। अतएव हरएकको गुणोंकी प्राप्ति करनी योग्य है।

सद्गुणैः गुरुतां याति कुलहीनोऽपि मानवः ।
निर्गुणः सत्कुलाढ्योऽपि लघुतां याति तत्क्षणात् ॥२७४॥

अन्वयार्थ— कुलहीनः अपि मानवः) कुल रहित नीच कुली मनुष्य भी क्यों न हो (सद्गुणैः गुरुतां याति) यदि उत्तम गुणोंसे विभूषित हो तो महानपनेको प्राप्त होजाता है (सत्कुलाढ्यः अपि) यदि कोई ऊंच कुलका धारी हो (निर्गुणः) परन्तु गुण रहित हो तो वह (तत्क्षणात् लघुतां याति) उसी समय हलका माना जाता है।

भावार्थ—नीच कुली भी धर्म, सदाचार, परोपकार आदि

गुणोंके कारण जगतमें माननीय होजाता है जब कि उत्तम कुलवाला भी मानव अधर्मसे, असदाचारसे व परके दुःख पहुंचानेसे नीच माना जाता है। अतएव हरएक नीच या ऊंच कुलीको उत्तम गुणोंकी प्राप्तिका यत्न करना योग्य है।

सद्वृत्तः पूज्यते देवैराखंडलपुरःसरैः।
असद्वृत्तस्तु लोकेस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुरैरपि ॥२७५॥

अन्वयार्थ–(सद्वृत्तः) उत्तम प्रशंसनीय चारित्रका धारी मानव (आखण्डलपुरःसरैः देवैः) इन्द्रादि देवोंके द्वारा (पूज्यते) मान सन्मानको पाता है (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (असौ असद्वृत्तः) जो कोई असदाचारी है, निन्द्य आचारका पालनेवाला है वह (सुरैः अपि निंद्यते) देवोंके द्वारा भी निन्दा पाता है।

भावार्थ–इन्द्रादिक देव भी उसीकी भक्ति या प्रतिष्ठा करते हैं जो धर्मात्मा है व चारित्रवान है। अधर्मी पापीकी देव भी निन्दा करते हैं। अतएव मानवोंको इस लोकमें प्रशंसापात्र होने व परलोकमें सुख पानेके लिये सदा ही सदाचारी, धर्मात्मा व परोपकारी होना योग्य है। मोक्षमार्गीको रत्नत्रयधर्मका साधन बड़े भावसे करना योग्य है॥

चारित्रं तु समादाय ये पुनर्भोगमागताः।
ते साम्राज्यं परित्यज्य दास्यभावं प्रपेदिरे ॥२७६॥

अन्वयार्थ–(ये तु चारित्रं समादाय) जो कोई चारित्रको पाकरके (पुनः भोगम् आगताः) फिर लौटकर भोगोंमें फंस जाते हैं (ते साम्राज्यं परित्यज्य दास्य भावं प्रपेदिरे) वे चक्रवर्ती राज्यको छोड़कर मानो दासपनेको धारण करते हैं।

भावार्थ—चारित्रके पालनेसे इस लोकमें भी यश, पूज्यपना, व सुखका लाभ होता है तथा परलोकमें भी शुभ गतिकी या मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो कोई गृहस्थ आत्मकल्याणके लिये गृहको छोड़कर साधु होजावे फिर भोगोंकी लालसासे साधुपना छोड़कर गृहस्थ बन जावे तो वह ऐसा ही कहलाएगा जैसे कोई चक्रवर्तीपना छोड़कर दासपना धारण करले। संयमका लाभ बड़े ही पुण्यसे होता है। अतृप्तिकारी भोगोंके पीछे संयमको नष्ट करना बड़ा भारी दोष है।

शील संधारिणां पुंसां मनुष्येषु सुरेषु च।
आत्मागौरवमायाति परत्रेह च संततं ॥ २७७ ॥

अन्वयार्थ—(शीलसंधारिणां पुंसां आत्मा) चारित्रको पालनेवाले पुरुषोंकी आत्मा (परत्र इह च) परलोकमें तथा इस लोकमें (मनुष्येषु सुरेषु च) मनुष्योंके भीतर तथा देवोंके भीतर (संततं) सदा (गौरवम् आयाति) पूज्यपनेको प्राप्त होता है।

भावार्थ—जगतमें चारित्र ही पूजने योग्य है। जो चारित्रवान होता है उनकी प्रतिष्ठा इस लोकमें भी होती है तथा परलोकमें भी वे शुभ गतिको प्राप्त होते हैं, बहुधा देवगतिमें जाते हैं। वहां उत्तम देवपद पाते हैं तब बहुतसे देव उनकी प्रतिष्ठा करते हैं। अतएव सदा ही हितकारी जो चारित्र है उसको भलेप्रकार पालकर नरजन्मको सफल करना योग्य है। यह नरजन्म चारित्रहीन बिताया जायगा तो पुनः मिलना बहुत ही दुर्लभ होजायगा।

आपदो हि महाघोराः सत्यसाधनसंगतैः।
निस्तीर्यन्ते महोत्साहैः शीलरक्षणतत्परैः ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थ—(सत्यसाधनसंगतैः) जो साधुजन सत्य मार्गका साधन करते हैं (महोत्साहैः) बड़े भारी उत्साहवान हैं (शीलरक्षणतत्परैः) चारित्रके रक्षणमें तत्पर हैं वे (महाघोराः आपदः हि निस्तीर्यन्ते) वे महान घोर आपत्तियोंके भीतरसे ही पार होजाते हैं।

भावार्थ—जैसे साहसी पुरुष नदी पार कर लेता है—महाभयानक जंगलको पारकर जाता है, वैसे महासाहसी चारित्र रक्षामें तत्पर साधु मोक्षमार्गमें बड़े उत्साहसे चलते हैं और घोर आपत्ति संकट व उपसर्ग पड़नेपर उनको शांतिसे सहकरके मोक्षकी सिद्धि कर लेते हैं।

वरं तत्क्षणतो मृत्युः शीलसंयमधारिणाम् ।
न तु सच्छीलभंगेन कल्पान्तमपि जीवितम् ॥२७९॥

अन्वयार्थ—(शीलसंयमधारिणाम् तत्क्षणतः मृत्युः वरं) शील संयमके धारी साधुओंका संयम पालते हुए शीघ्र मरना अच्छा है (तु) परन्तु (सच्छीलभंगेन) सम्यक् शीलको भंग करके (कल्पांतम् अपि जीवितं न वरं) कल्पों कल्प जीना भी श्रेष्ठ नहीं है।

भावार्थ—प्राणोंकी रक्षा संयम पालनेके लिये है अतएव प्राणांत पर्यंत संयमको दृढतासे पालना चाहिये। यदि संयम घातका अवसर हो तो समाधिमरण कर लेना चाहिये। फिर संयमको खंडन करके बहुत जीना ठीक नहीं है। यदि बहुत जीए भी परन्तु सदाचार विहीन बने रहे तो जीनेसे न जीना ही अच्छा है।

धनहीनोऽपि शीलाढ्यः पूज्यः सर्वत्र विष्टपे ।
शीलहीनो धनाढ्योपि न पूज्यः स्वजनेष्वपि ॥२८०॥

अन्वयार्थ-(सर्वत्र विष्टपे) सर्व जगह इहलोकमें (शीलाढ्यः) चारित्रवान पुरुष (धनहीनः अपि) धनहीन भी हो तोभी (पूज्यः) आदरके योग्य है (शीलहीनः) जो चारित्र रहित (धनाढ्यः अपि) धनवान भी है वह (स्वजने अपि) अपने मानवोंमें भी (पूज्यः न) पूज्यनीय नहीं होता है।

भावार्थ-इस जगतमें गुण ही पूज्य हैं। जो महानुभाव गरीब हैं परन्तु शीलवान हैं, चारित्रवान हैं, वे जगतमें लोक सन्मानको पाते हैं तथा जो धनवान तो हैं परन्तु चारित्र विहीन हैं, असदाचारी हैं उनको इस लोकमें कहीं भी आदर नहीं होता है। वे यहां भी तुच्छ होते हैं तथा परलोकमें भी दुर्गतिको पाते हैं।

वरं शत्रुगृहे भिक्षा याचना शीलधारिणां।
न तु सच्छीलभंगेन साम्राज्यमपि जीवितम् ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थ-(शीलधारिणां) चारित्र पालनेवालोंको (शत्रुगृहे) शत्रुके घरमें भी (भिक्षा याचना वरं) भिक्षा लेना अच्छा है (तु) परन्तु (सच्छीलभंगेन) सदाचारको नाश करके (साम्राज्यं अपि जीवितम् न) चक्रवर्ती होकर भी जीना ठीक नहीं है।

भावार्थ-सदाचारी धर्मात्मा साधु यदि शत्रुके घरमें चला जावे उसको भिक्षाके बदलेमें प्राण देने पड़ें तोभी ठीक है, उसकी आत्माका कल्याण है, परन्तु जो चक्रवर्ती भी हो, परन्तु चारित्रहीन हो तो उसका जीवन किसी कामका नहीं है।

प्रयोजन यह है कि हमें अपने चारित्रको उज्वल रखना चाहिये। चारित्र ही आत्माका हितकारी है व जगतमें पूज्यनीय है।

वरं सदैव दारिद्र्यं शीलैश्वर्यसमन्वितम् ।
न तु शीलविहीनानां विभवाश्चक्रवर्तिनः ॥ २८१ ॥

अन्वयार्थ–(शीलैश्वर्यसमन्वितम्) शील या चारित्ररूप धन सहित (दारिद्र्यं) दलिद्री भी होना (सदैव वरं) सदा ही अच्छा है (तु) परन्तु (शीलविहीनानां) जो चारित्रसे शून्य है (चक्रवर्तिनः विभवाः न) उनकी चक्रवर्तीकी विभूतियां भी ठीक नहीं हैं।

भावार्थ–चारित्रको पालते हुए यदि कोई धनरहित है तौ भी वह ऐश्वर्यमान है व सदा ही माननीय है, परन्तु जो चक्रवर्ती भी हो परन्तु चारित्रशून्य हो तो वह निन्दनीय है। अतएव चारित्रको भले प्रकार पालना चाहिये।

धनहीनोऽपि सद्वृत्तो याति निर्वाणनाथतां ।
चक्रवर्त्यप्यसद्वृत्तो याति दुःखपरंपराम् ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थ–(धनहीनः अपि) धनहीन भी हो परन्तु (सद्वृत्तः) जो सम्यग्दर्शन सहित चारित्रका पालनेवाला हो सो (निर्वाणनाथतां याति) मोक्षको प्राप्त कर लेता है (चक्रवर्ती अपि) चक्रवर्ती सम्राट् भी (असद्वृत्तः) मिथ्यात्व सहित कुआचारको पालनेवाला हो तो (दुःखपरंपराम् याति) दुःखोंकी संतानको पाता रहता है।

भावार्थ–आत्म–प्रतीति सहित चारित्र ही जीवको यहां भी सुखी रखता है, व आगामी भी सुखी बनाता है। जिसको आत्मानन्दका अनुभव पूजा, पाठ, जप, तप, स्वाध्याय, सामायिकके द्वारा आता है, वह धनहीन होनेपर भी सुख भोगता है। वह शुभगतिमें जाकर सुखी रहता है। परम्परासे वह निर्वाण

प्राप्त कर लेता है, परन्तु जो चक्रवर्तीके समान बलवान हो और आचार भ्रष्ट हो, न सम्यग्दर्शन हो, न आत्मज्ञान हो, न श्रावक व्रत पाले न मुनिव्रत पाले किन्तु हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह पांच पापोंमें प्रवृत्ति करे तो वह वहां भी आकुलित रहता है। तथा मरकर नर्क व पशुगतिमें जाकर दु:ख उठाता है। उसको बहुतसे दु:खमय जन्म धारण करने पड़ते हैं।

सुखरात्रिर्भवेत्तेषां येषां शीलं सुनिर्मलम्।
न सच्छीलविहीनानां दिवसोऽपि सुखावहः ॥२८४॥

अन्वयार्थ-(येषां सुनिर्मलं शीलम्) जिनका पवित्र चारित्र है (तेषां सुखरात्रिः भवति) उनकी रात्रि सुखसे-निराकुलतासे बीतती है (सच्छीलविहीनानां) जिसका चारित्र ठीक नहीं है उनका (दिवसः अपि सुखावहः न) दिन भी सुखदाई नहीं है।

भावार्थ-चारित्रसे शांति रहती है, चिन्ता नहीं रहती है, संतोष रहता है तब रात्रिको सुखसे निद्रा आती है। परन्तु जिनका चारित्र ठीक नहीं होता है वे द्यूतरमण, शिकार, चोरी, वेश्या, परस्त्री-गमन, मांसाहार, मदिरापान, अन्याय व तीव्र विषयभोगोंकी लालसामें फंसे रहते हैं, उनको न दिनमें चैन है न रात्रिमें चैन है। वे आकुलता व चितामें ग्रसित रहते हैं। उन्हें इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, शरीर रोगी होनेकी बड़ी२ चिन्ताएं सताती हैं। उनका जीवन कष्टमय रहता है। अतएव बुद्धिमान मानवका कर्तव्य है कि वह सदाचारी रहे, पांच पापोंसे बचे, प्राप्त भोगमें संतोष रक्खें व धर्म साधनमें दत्तचित्त रहें।

काम क्रोधादि हानिकारक है।

देहं दहति कामाग्निस्तत्क्षणं समुदीरितम्।
वर्द्धमानः समामर्थ्यं चिरकालसमार्जितम् ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थ-(कामाग्निः) कामभावकी आग (समुदीरितम्) जब उठ खड़ी होती है (तत् क्षणं देहं दहति) तब उठनेके साथ ही शरीरको जलाती है (वर्धमानः) जब वह कामकी अग्नि बढ़ जाती है तब (चिरकालसमुपार्जितम्) दीर्घकालसे अभ्यासमें लाई हुई (समामर्थ्यं) शान्तिको मुख्यतासे जला देती है।

भावार्थ-काम भावकी आग बड़ी ही भयंकर है। जब इसकी ज्वाला प्रगट होती है तब जैसे मन आकुलित होता है वैसे ही शरीरका रुधिर जलने लगता है। जब वह कामकी चाह तीव्र वेग-रूप होजाती है तब तो बहुत ही हानि करती है। दीर्घकालसे किसीने शांतिका अभ्यास किया हो वह शांति शीघ्र ही जाती रहती है। कामकी चाहकी आकुलतासे वह दिन रात दुःखी रहता है। अतएव जिन निमित्तोंसे काम भाव जागृत हो उन निमित्तोंसे भले प्रकार बचना चाहिये। अग्नि तो वर्तमान शरीरको जलाती है परन्तु कामकी आग प्राणीको भवभवमें जलाती है। वह बड़ी ही भयंकर है।

क्रोधेन बर्धते कर्म दारुणं भववर्धनम्।
साम्यं च क्षीयते सद्यस्तपसा समुपार्जितम् ॥ २८६ ॥

अन्वयार्थ-(क्रोधेन दारुणं भववर्धनं कर्म बंधते) क्रोध कषायसे भयानक संसारको बढ़ानेवाला कर्मबंध बढ़ता है (तपसा समुपार्जितम्

च साम्यं सद्यः क्षीयते) तथा तप करनेमें जो प्राप्त की हुई समता है वह शीघ्र ही नाश होजाती है।

भावार्थ-क्रोधके समान कोई भयंकर आग नहीं है। परिणाम बड़े ही क्रूर, क्लेशित व हिंसक होजाते हैं। इसलिये तीव्र चारित्र-मोहनीय आदि अशुभ कर्मोंका बंध होता है जिसका फल भवभवमें दुःखदाई होता है। वैरभाव कई जन्मों तक चला जाता है। जिस साधुने चिरकाल तक तप करके समताका अभ्यास किया हो उस सर्व साम्यभावके भंडारको यह क्रोधकी चिनगारी भस्म कर डालती है। अतएव हरएक साधु या श्रावकका परम धर्म है कि वह क्रोधकी अग्निको कभी भड़कने न दें, उन निमित्तोंसे बचें जिनसे क्रोधकी वृद्धि होती है। शांतभावमें रमना जीवनको सदा सुखी रखता है। परलोकमें भी सुखी जीवन प्राप्त होता है। क्रोधको जीते वही जिन है।

सुदुष्टमनसा पूर्वं यत्कर्म समुपार्जितम्।
तस्मिन् फलप्रदे यास्ति कोऽन्येषां क्रोधमुद्वहेत् ॥२८७॥

अन्वयार्थ-नोट-(यह श्लोक शुद्ध नहीं मालूम होता है) (सुदुष्टमनसा यत् कर्म पूर्वं समुपार्जितम्) अपने दुष्ट अशुभ भावोंसे जो कर्म पहले बांधा जाचुका है (तस्मिन् फलप्रदे) उदय आनेपर (कः अन्येषां क्रोधं उद्वहेत्) कौन बुद्धिमान् दूसरोंपर क्रोध करेगा?

भावार्थ-जब किसीको कोई कष्ट किसीके द्वारा पहुंचता है व किसीके द्वारा किसीका नुकसान होता है तब उसमें दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है, उस कष्ट या हानि होनेका मूल कारण उस जीवका अपना ही अशुभ भावोंसे बांधा हुआ पापकर्म है। तब ज्ञानी

विचारता है कि इसमें मेरा ही अपराध है, ये तो निमित्त कारण मात्र है। मुझे इनपर क्रोध नहीं करना चाहिये। भला हुआ कि इनके निमित्तसे मेरा कर्म झड गया ऐसा विचारकर समभाव रखता है।

विद्यमाने रणे यद्वच्चेतसो जायते धृतिः।
कर्मणा योध्यमानेन किं विमुक्तिर्न जायते ॥ २८८ ॥

अन्वयार्थ-(रणे विद्यमाने) युद्धक्षेत्रमें रहते हुए (यद्वत्) जिस तरह (चेतसः धृतिः जायते) चित्तको धैर्य रहता ही है (कर्मणा योध्यमानेन) तब कर्मोंसे युद्ध करते हुए (विमुक्तिः किं न जायते) मोक्ष क्यों नहीं होगा ?

भावार्थ-जो साहसी होता है वह विजय प्राप्त कर लेता है। युद्धमें जो ठहरेगा उसे अवश्य धैर्य और साहस रखना ही होगा नहीं तो वह युद्धक्षेत्रमें ठहर नहीं सक्ता। इसीतरह जो यह विचार दृढतासे करेगा कि मुझे अवश्य कर्मोंको जीतना है तो वह अवश्य धैर्य और साहसके साथ आत्मध्यान करेगा। ध्यानके बलसे वह कर्मोंको क्षय करके अवश्य मुक्त हो जायगा।

स्वहितं यः परित्यज्य सयत्नं पापमाहरेत्।
क्षमां न चेत् करोम्यस्य स कृतघ्नो न विद्यते ॥ २८९ ॥

अन्वयार्थ -(यः स्वहितं परित्यज्य) जो अपने आत्मकल्याणको त्याग कर (सयत्नं पापं आहरेत) यत्नपूर्वक पापको एकत्र करता है (अस्य क्षमां चेत् न करोमि) इसको क्षमा मैं नहीं करता हूं (स कृतघ्नः न विद्यते) वह कृतघ्नी है, उसका सा और कोई कृतघ्नी नहीं है।

भावार्थ—जो अज्ञानी मानव आत्महितके कार्यको न करता हुआ विषयवासनाके लोभसे चारित्रको छोड़कर भ्रष्ट होजावे और पापोंको करने लग जावे तो वह मानव बड़ा ही कृतघ्नी है। क्योंकि धर्मके प्रतापसे शुभसंयोग प्राप्त हुए उसी धर्मका तिरस्कार करता है वह मानव क्षमाका पात्र नहीं है।

शत्रुभावस्थितान् यस्तु करोति वशवर्तिनः ।
प्रज्ञाप्रयोगसामर्थ्यात् स शूरः स च पंडितः ॥२९०॥

अन्वयार्थ—(यः तु) जो कोई (शत्रुभावस्थितान्) राग द्वेषादि शत्रुओंको (वशवर्तिनः करोति) अपने वश कर लेता है (प्रज्ञाप्रयोगसामर्थ्यात्) भेदविज्ञानके अभ्यासकी शक्तिसे (स शूरः स च पंडितः) वही वीर है व वही पंडित है।

भावार्थ भेदविज्ञानकी पैनी छैनीसे रागद्वेषादि आत्माके वैरी जीत किये जाते हैं। जो महात्मा इन विभावोंको विजय करता है वही सच्चा वीर है, वही सच्चा पण्डित है।

कलह व विवाद नहीं करना।

विवादं हि मनुष्याणां धर्मकामार्थनाशकृत्।
वैरान् बंधुजनं नापि नित्यं वाहितकर्मणां ॥ २९१ ॥

अन्वयार्थ—(मनुष्याणां विवादं हि) जो मानवोंमें परस्पर विवाद या झगड़ा करना है वह (धर्मकामार्थनाशकृत्) धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंका नाशकर डालता है (वाहितकर्मणां) कर्मोंके फलको भोगनेवाले मानवोंके (वैरान् बन्धुजनं नापि नित्यं) वैरी व बन्धुजन कोई नित्य नहीं है।

भावार्थ जगतमें झगड़ा करनेमे बहुत हानि उठानी पड़ती है। कलहके कारण शत्रु अनेक हो जाते हैं। जगतमें न बन्धुजन नित्य है न शत्रु नित्य हैं। सभीको अवस्था बदलनी पड़ती है। अतएव ज्ञानीको उचित है कि शांत जीवन वितावे, रागद्वेष न करे, विवाद न करे तव उभय लोकमें सुख होगा। नोट—इसका जो भाव समझमें आया सो लिखा है।

धन्यास्ते मानवा नित्यं ये सदा क्षमया युताः।
वंचमाना न वै लुब्धा विवादं नैव कुर्वते ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ (ते मानवा नित्यं धन्याः) वे मानव नित्य धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं (ये सदा क्षमया युताः) जो सदा क्षमागुणसे पूर्ण होकर (वंचमाना न वै क्षुब्धा) दूसरोंसे ठगे जानेपर भी आकुलित नहीं होते हैं (विवादं नैव कुर्वते) किसीके साथ झगड़ा नहीं करते हैं।

भावार्थ—यहांपर दिगम्बर जैन साधुओंको लक्ष्यमें लेकर कहा

है कि वे साधु सदा ही उत्तमक्षमा गुणको पालते हैं, कभी भी क्रोध करके अपने आत्माको कलुषित नहीं करते हैं, न किसीके साथ झगड़ा करते हैं। यदि कोई उनको ठग लेता है, उनके साथ कपट करता है तौ भी वे संत महात्मा क्षमाभावसे अपने कर्मोंका उदय विचार कर सह लेते हैं। बचनोंसे व मनसे कोई झगड़ा नहीं करते हैं।

वादेन बहवो नष्टा येऽपि द्रव्यमहोत्कटाः ।
वरमर्थपरित्यागो न विवादः खलैः सह ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थ (वादेन बहवः नष्टाः) परस्पर झगड़ा उठनेसे बहुत नष्ट होचुके (येऽपि द्रव्यमहोत्कटाः) बड़े २ धनिक भी नाश होगए (खलैः सह विवादः न वरं अर्थपरित्यागः) दुष्टोंके साथ झगड़ा करना अच्छा नहीं। यदि द्रव्यका त्याग करना पड़े तो ठीक है।

भावार्थ-साधुओंको तो सदा समभाव रखना चाहिये, किसीके साथ विवाद न करना चाहिये। गृहस्थोंको भी यह उपदेश है कि किसीके साथ लड़ाई झगड़ा न करें, लड़ाईकी आग बढ़नेसे दोनों तरफ बहुत नाश होता है। सज्जनोंके साथ विवाद आजावें तो जल्दीसे निवट जाता है, अधिक हानि नहीं होती है, परन्तु दुर्जनोंके साथ झगड़ना तो ठीक ही नहीं है। यदि कुछ द्रव्यके त्यागसे झगड़ा निवट जावे तो निवटा लेना चाहिये अन्यथा भारी हानि उठानी पडेगी। इसका अभिप्राय यह नहीं कि दुष्टसे दबकर अपनी हानि उठा लेना। थोड़ी हानिसे, द्रव्यके देनेसे यदि वह मान जावे तो अधिक लड़ाई झगड़ा न बढ़ाना।

अहंकारो हि लोकानां विनाशाय न वृद्धये ।
यथा विनाशकाले स्यात् प्रदीपस्य शिखोज्वला ॥२९४॥

अन्वयार्थ—(अहंकारः) अहंकार या घमण्ड (हि लोकानां विनाशाय) निश्चयसे लोगोंका नाश करनेवाला है (न वृद्धये) उससे उन्नति नहीं होती है (यथा विनाशकाले प्रदीपस्य शिखोज्वला स्यात्) जैसे जब दीपक बुझने लगता है तब उसकी लौ बढ़ जाती है।

भावार्थ—गृहस्थोंको उचित है कि धन, अधिकार, कुटुम्ब, राज्य आदिके होनेपर अहंकार या घमण्ड न करे, क्योंकि ये सब पदार्थ नाशवन्त हैं। सम्पत्ति होनेपर नम्रता व विनय रखना ही शोभनीक है न कि घमण्ड करना। जो घमण्ड करते और दूसरोंको सताते हैं, तिरस्कार करते हैं, उनको ऐसा पापका बन्ध होजाता है कि वह इसी जन्ममें उदय आजाता है और उसके फलसे घमण्डीका पतन होजाता है। दीपककी लौ बुझते समय बढ़ जाती है। वह अहंकार करके मानो मिट जाती है।

हीनयोनिषु बंभ्रम्य चिरकालमनेकधा ।
उच्चगोत्रे सकृत् प्राप्ते कोऽन्यो मानं समुद्वहेत ॥२९५॥

अन्वयार्थ—(हीनयोनिषु चिरकालं अनेकधा बम्भ्रम्य सकृत् उच्चगोत्रे प्राप्ते) यह जीव नीच योनियोंमें दीर्घकाल अनेक तरहसे जब भ्रमण कर चुकता है तब कहीं पुण्यके योगसे एक दफे उच्च योनिमें जन्म प्राप्त करता है (अन्य कः मानं समुद्वहेत्) ऐसी दशामें कौन ऐसा है जो अहंकार करे।

भावार्थ—उच्च कुलके जन्मका व धनादिका अभिमान करना

वृथा है । क्योंकि इस जीवको नीच कुलोंमें वारम्वार जन्मना पड़ता है व अनेकवार धनहीन होना पड़ता है, तब कहीं बड़े पुण्ययोगसे उच्च कुलमें जन्म होता है या धनवानपना प्राप्त होता है। ऐसे क्षणभंगुर संयोगके होनेपर ज्ञानी जीव अहंकार नहीं करते हैं, प्रत्युत विनयवान व नम्र होकर जगतकी सेवा करते हैं व धर्मसाधन करके आत्मकल्याण करते हैं । मान ही विशादकी जड़ है ।

वीतराग विज्ञानमय मार्ग दुर्लभ है।

रागद्वेषौ महाशत्रू मोक्षमार्गमलिम्लुचौ ।
ज्ञानध्यानतपोरत्नं हरतः सुचिरार्जितम् ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थ-(रागद्वेषौ महाशत्रू) राग और द्वेष महाशत्रु हैं (मोक्षमार्गम् अलिम्लुचौ) मोक्षके वीतराग विज्ञानमय मार्गको लूटनेवाले हैं (सुचिरार्जितम् ज्ञानध्यानतपोरत्नं हरतः) ये दीर्घकालसे संचय किये हुए ज्ञान, ध्यान, तप, रत्नको लूट लेते हैं

भावार्थ-मोक्षमार्गीको रागद्वेष त्यागकर वीतराग भावका ही शरण ग्रहण करना चाहिये । आत्माके प्रबल वैरी रागद्वेष हैं । ये ही आत्माकी ज्ञान ध्यान तपकी सम्पत्तिको हर लेते हैं और इसे दीन, हीन, दरिद्री, पापी, अन्यायी, दुराचारी बना देते हैं, कषायवान कर देते हैं और संसारके भयानक गर्तमें पटक देते हैं ।

चिरं गतस्य संसारे वहुयोनिसमाकुले ।
प्राप्ता सुदुर्लभा बोधिः शासने जिनभाषिते ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थ-(बहुयोनिसमाकुले संसारे) ८४ लाख योनि-

योंसे भरे हुए संसारमें (चिरं गतस्य) अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए जीवको (जिनभाषिते शासने सुदुर्लभा बोधिः प्राप्ता) जिनेन्द्र भाषित धर्ममें बड़ी कठिनतासे ज्ञानका लाभ हुआ है।

भावार्थ-दीर्घकालीन संसारमें एक तो मानव जन्मका पाना कठिन है, दूसरे उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रिय पूर्णता, उत्तम देश, जैनधर्मका समागम ये सब साधन मिलना एकसे एक कठिन हैं। तिसपर भी जैनधर्मका ज्ञान होना तो बहुत ही कठिन है। जिसको होजावे उसको उचित है कि उस आत्मज्ञानको सम्हालकर रक्खे तथा प्रमाद छोड़कर आत्माका हित साधन करले। यदि प्रमाद करेगा तो यह अवसर फिर न मिलेगा।

अधुना तां समासाद्य संसारच्छेदकारिणीम्।
प्रमादो नोचितः कर्तुं निमेषमपि धीमता ॥ २९८ ॥

अन्वयार्थ-(अधुना) अब (संसारच्छेदकारिणीं तां समासाद्य) संसारको छेद करनेवाली उस बोधिको पाकर (धीमता) बुद्धिमानको (निमेषं अपि) एक क्षणमात्र भी (प्रमादः कर्तुं न उचितः) प्रमाद करना उचित नहीं है।

भावार्थ-बड़ी ही कठिनतासे जैनधर्मका समागम होता है। तथा उससे भी कठिन तत्वोंका ज्ञान है। ज्ञान होकर श्रद्धान होना तो और भी कठिन है। श्रद्धान सहित ज्ञान होनेपर चारित्रके पालनमें बुद्धिमानको प्रमाद नहीं करना चाहियें, क्योंकि मानवजन्मके वीत जानेका कोई समय नियत नहीं है। शीघ्रातिशीघ्र आत्मशुद्धिका पुरुषार्थ कर लेना उचित है। मुनि या श्रावकके व्यवहार

चारित्रके सहारेसे आत्मानुभवरूप निश्चय चारित्रका अभ्यास करना योग्य है जिससे जीवन सदा सुखदाई होजावे।

प्रमादं ये तु कुर्वंति मूढा विषयलालसाः।
नरकादिषु तिर्यक्षु ते भ्रमन्ति चिरं नराः॥ २९९॥

अन्वयार्थ-(ये तु मूढा) जो कोई मूढ़ पुरुष (विषयलालसाः) इन्द्रियोंके विषयोंके लम्पटी होकर (प्रमादं कुर्वंति) प्रमाद करते हैं (ते नराः नरकादिषु तिर्यक्षु चिरं भ्रमन्ति) वे मानव नरक तिर्यंच आदि गतियोंमें दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं।

भावार्थ-अवसरको चूकना बड़ी भारी भूल है। आत्मज्ञानका लाभ होजावे तब मानवोंको आत्मध्यानका विशेष उपाय करना योग्य है जिससे कर्मोंका क्षय हो तथा जबतक मोक्षका लाभ न हो तब-तक देव या मनुष्य गतिमें जन्म हुआ करे, नरक वा पशु गतिमें जाना न पड़े। क्योंकि इन दोनों गतियोंमें शारीरिक घोर कष्ट भोगने पड़ते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव एक दफे निगोदमें चला जाता है तब वहांसे उन्नति करते हुए द्वेन्द्रियादि पर्याय पाना ही बहुत दुर्लभ है। मनुष्य होना तो बहुत ही कठिन है।

स्वाधीन सुख सच्चा सुख है।

आत्मा यस्य वशे नास्ति कुतस्तस्य परे जनाः।
आत्माधीनस्य शान्तस्य त्रैलोक्यं वशवर्तिनं ॥ ३०० ॥

अन्वयार्थ—(यस्य वशे आत्मा नास्ति) जिसके आधीन अपना आत्मा नहीं है (परे जनाः कुतः तस्य) उसके आधीन दूसरे मानव कैसे होसकते हैं (आत्माधीनस्य शांतस्य त्रैलोक्यं वशवर्तिनं) जिसके आधीन अपना आत्मा है व जो शांत है उसके आधीन तीन लोक होजाता है।

भावार्थ—जो अपनी इन्द्रियोंको अपने वश रखता है, जिसके आधीन कषाय भाव है, जो शांत चित्त है, सहनशील है, क्षमावान है, उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि तीन लोकके प्राणी उसके आधीन होजाते हैं, आत्माके अंतरंग गुण प्राणीमात्रको वश कर लेते हैं। अतएव अपनी आत्माकी उन्नति अत्यन्त आवश्यक है।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ॥ ३०१ ॥

अन्वयार्थ—(यत् सौख्यं आत्माधीनं) जो आत्माका सुख स्वभाव है (तत् सौख्यं बुधैः वर्णितं) उसीको बुद्धिमानोंने सुख कहा है (यत् तु पराधीनं सौख्यं) जो सुख पराधीन है, इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन है (तत्सुखं न दुःखं एव) वह सुख नहीं है, वह तो दुःखरूप ही है।

भावार्थ—इन्द्रियोंका सुख अतृप्तकारी है व तृष्णाकी दाहको बढ़ानेवाला है, आकुलताका कारण है। जब कि अतीन्द्रिय सुख

स्वाधीन है, आत्माका स्वभाव है, अविनाशी है, निराकुल है, कर्मोंका क्षय करनेवाला है। अतएव इस सच्चे आत्मीक सुखके लिये बुद्धिमानोंको उद्यास करना योग्य है। इसका उपाय परसे ममत्व छोडकर एक निज आत्माका ही ध्यान है।

पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसां।
तस्मादेतत् समालोच्य आत्मायत्तं सुखं करु ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(महौजसां राज्ञां अपि) महान् तेजस्वी राजाओंको भी (पराधीनं सुखं कष्टं) पराधीन सुख कष्टका देनेवाला है (तस्मात् एतत् समालोक्य) इसलिये ऐसा भलेप्रकार देखकर (आत्मायत्तं सुखं कुरु) आत्मध्यानी अतीन्द्रिय सुखके लिये प्रयत्न करना योग्य है।

भावार्थ—इन्द्रिय सुखसे कभी तृप्ति नही होती। बड़े२ राजाओंकी भी तृष्णा बढ़ जाती है। जब इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त होती है तब उनको बड़ा दुःख होता है तथा इष्ट पदार्थके वियोगका कष्ट होता है। साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है। इसलिये यही उचित है कि इन्द्रियसुखको असार जानकर आत्माके स्वाभाविक सुखके लाभका प्रयत्न किया जावे, जिससे उभयलोकमें आनंदका लाभ हो।

आत्मायत्तं सुखं लोके परायत्तं न तत्सुखं।
एतत् सम्यक् विजानंतो मुह्यंते मानुषाः कथं ॥२०३॥

अन्वयार्थ—(लोके आत्मायत्तं सुखं) इस लोकमें जो स्वाधीन सुख है वही सुख है (परायत्तं तत् सुखं न) पराधीन सुख सुख नहीं है (एतत् सम्यक् विजानन्तः) ऐसा भले प्रकार जानते हुए (मानुषाः कथं मुह्यन्ते) मानुष क्यों इन्द्रियसुखमें मोह करते हैं।

भावार्थ–अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वभाव है। अपनेसे ही अपनेको जब चाहे तब प्राप्त होसक्ता है। वह कभी कम नहीं होता। उसके भोगनेमें अपनी कुछ हानि नहीं है उल्टा कर्मोंका क्षय होता है। ऐसे सुखके सामने इन्द्रियसुख पराधीन है। पर पदार्थोंके व इन्द्रिय बलके आधीन है, अतृप्तिकारी है। तृष्णा रोगवर्धक है ऐसा भले प्रकार समझके बुद्धिमानोंका कर्तव्य है कि वे उस झूठे इन्द्रिय सुखमें मोह न करें। जो जानते हुए भी मोह करते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है। यह मोहनीय कर्मके तीव्र उदयका दोष है। इस मोहके घटानेका उपाय जिनागमका सेवन है।

परिग्रह सुखका बाधक है।

नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम्।
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थ–(संगात्) परिग्रहकी मूर्छासे (उत्तमम्) उत्तम व (मोक्षसाधनं सौख्यं न जायते) मोक्षका साधनभूत सुख नहीं प्राप्त होता है (च संगात् संसारस्य निबन्धनं दुःखं जायते) किंतु परिग्रहकी मूर्छासे संसारका कारण दुःख ही प्राप्त होता है।

भावार्थ–परिग्रहका ममत्व त्याग देनेसे व विषयोंकी चाह मिटा देनेसे व मोक्षसे प्रेम करनेसे वीतराग भाव सहित आत्मामें रमण होता है तब उत्तम अतींद्रिय सुख भी मिलता है तथा कर्मोंका क्षय भी होता है, संसार कटता है। परन्तु परिग्रहके ममत्वसे ऐसा अपूर्व सुख नहीं प्राप्त होसक्ता है। इतना ही नहीं, पापोंका बंध होता है जिससे संसार भी बढ़ता है और दुःखोंको भी सहना पडता है।

दुःखमें शोच वृथा है ।

पूर्वकर्मविपाकेन वाधायां यच्च शोचनम् ।
ततीदं स्वदंष्ट्रस्य जरत् वेचाहि ताडनम् ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थ-(पूर्वकर्मविपाकेन वाधायां यत् च शोचनम्) पूर्व कर्मोंके उदयसे पीड़ा होजानेपर उसके लिये सोच करना (तत इदं) सो ऐसा ही है जैसे (स्वदंष्ट्रस्य जरत् वेचाःहि ताड़नम्) कोई वृद्ध बैल अपनेसे ही अपनेको काटले फिर पूछसे अपनेको ही मारे ।

भावार्थ-कोई असमर्थ बैल दुःखसे घबड़ाकर अपनेसे अपनेको काट ले और फिर पूछसे अपनेको ही ताड़न करे तो यह उसकी मूर्खता ही है । उसने अपनेको ही काटा है उसका कष्ट उसको ही भोगना पडेगा । इसीतरह जो तीव्र कर्म इस जीवने स्वयं बांधा है उसका जब उदय आजावे फिर सोचना व घबडाना वृथा ही है, मूर्खता है । वह अपने ही दोषका फल है । बुद्धिमानोंको उचित है कि दुःखको समताभावसे भोग लेवें ।

अन्ये हि वाधते दुःखं मानसं न विचक्षणे ।
पवनैर्नीयते तूलं मेरोः श्रृंगं न जातुचित् ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थ-(मानसं दुःखं) मानसिक दुःख (विचक्षणे न हि अन्ये बाधते) बुद्धिमान पण्डितको कष्ट नहीं पैदा करता है किन्तु अन्य मूर्खको ही सताता है (पवनैः तूलं नीयते मेरोः श्रृंगं जातुचित् न) पवनके वेगोंसे रुई उड़ जाती है किन्तु सुमेर पर्वतका शिखर कभी नहीं उड़ता है ।

भावार्थ—अज्ञानी दुःखोंके पड़नेपर मनमें त्रासित होकर घबडाते हैं व शोच करते हैं परन्तु सम्यग्ज्ञानी कर्मोंके दुःखको जानकर अपना ही अपराध जानकर सन्तोषित रहकर समभाव रखते हैं। जैसे तीव्र पवन रुईके ढेरको उड़ा सकती है, परन्तु सुमेरु पर्वतके शिखरको कदापि नहीं उडा सक्ती है, वह निश्चल बना रहता है। साधुजन परीषह व उपसर्गोंको बड़ी ही शांतिसे सहन कर लेते हैं।

ज्ञानपानेका फल स्वरूपरमण है।

परं ज्ञानफलं वृत्तं न विभूतिर्गरीयसी।
तथा हि वर्धते कर्म सद्‌वृत्तेन विमुच्यते ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानफलं परं वृत्तं न गरीयसी विभूतिः) शास्त्रज्ञान पानेकी सफलता उत्तम चारित्र पालन है न कि विपुल धनका लाभ (तथा हि कर्म वर्धते) विपुल धनके संयोगसे तो कर्मोंका बंध बढेगा जब कि (सद्‌वृत्तेन विमुच्यते) स्वरूपाचरण रूप सम्यक्-चारित्रसे बंधका नाश होगा।

भावार्थ—जो कोई विद्या पढ़कर व शास्त्रोंका ज्ञाता होकर उस ज्ञानके फलसे बहुत धनका संचय करना चाहता है वह कुफलको चाहता है, ज्ञानका दुरुपयोग करता है। क्योंकि धनरूपी परिग्रह मुर्छा बढ़ानेमें कारण होगा जिससे कर्मोंका अधिक संचय होगा, परम्पराय संसार बढेगा। शास्त्रज्ञानका फल वैराग्य है। तत्वज्ञानीको यथाशक्ति व्यवहार चारित्र पालकर निश्चय आत्मरमण रूप चारित्रका

अभ्यास करना चाहिये। जिससे नवीन कर्मोंका संवर हो व पुरातन कर्मोंकी निर्जरा हो और यह आत्मा बंधसे छूटकर मुक्त हो जावे और शुद्ध होकर सदाके लिये कृतकृत्य और सुखी होजावे। फिर भवभवमें भटकना न पड़े।

संवेगः परमं कार्यं श्रुतस्य गदितं बुधैः।
तस्माद्ये धनमिच्छन्ति ते त्विच्छन्त्यमृताद्विषम् ॥२०८॥

अन्वयार्थ-(श्रुतस्य परमं कार्यं संवेगः बुधैः गदितं) शास्त्र ज्ञानका उत्तम फल वैराग्य है ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है (तस्मात्) इस शास्त्रदानसे (ये धनं इच्छंति) जो कोई धनकी चाहना करते हैं (ते तु अमृतात् विषं इच्छंति) वे तो अमृत पीकर विषकी चाह करते हैं।

भावार्थ-जिनवाणीका भलेप्रकार अभ्यास जो करेगा उसको संसार शरीर भोगोंसे वैराग्य आना चाहिये तथा उसे आत्मकल्याणका प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु जो कोई शास्त्रोंको पढ़कर संवेग भाव न प्राप्त करे और उस ज्ञानसे धन कमाकर धनवान होना चाहे, परिग्रहके ममत्वमें फंसना चाहे वह उस विद्यासे मोही बनकर दुर्गतिका पात्र बनेगा। वह ऐसा ही मूर्ख है जैसा वह मूर्ख है जो अमृत पीकर विष चाहे। जिनवाणीका स्वाद अमृतरूप है सो अमर-अजर मोक्षका कारण है, जिससे अविनाशी मोक्ष मिल सकती हो। उससे संसारके तुच्छ विषयभोग करके सुख मान लेना विष ग्रहणके समान है।

सच्चा धन क्या है ?

श्रुतं व्रतं शमो येषां धनं परमदुर्लभम् ।
ते नराः धनिनः प्रोक्ताः शेषा निर्धनिनः सदा ॥२०९॥

अन्वयार्थ—(येषां परमदुर्लभं धनं श्रुतव्रतं शमः) जिनके पास बड़ी कठिनतासे प्राप्त करनेयोग्य धन—शास्त्रज्ञान, चारित्र व शमभाव है (ते नराः धनिनः प्रोक्ताः) वे ही मानव धनवान कहे गए हैं (शेषाः सदा निर्धनिनः) बाकी मानव धनवान होकर भी निर्धनी हैं ।

भावार्थ—जिससे सच्चा सुख व संतोष मिले वही धन है । मानवोंको सच्चा सुख देनेवाले तीन पदार्थ हैं । शास्त्रोंका यथार्थ ज्ञान, मुनि या श्रावकका चारित्र पालन तथा सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होनेवाला समभाव या शांतभाव । जिनको ये तीन महान् गुण मिल गये वे ही सच्चे धनी हैं । इनका प्राप्त करना बड़ा कठिन है । इनहीको प्राप्त करना भी चाहिये । जो शास्त्रज्ञान रहित, चारित्र रहित, व सम्यग्दर्शन रहित हैं वे धनवान होकर भी निर्धनी हैं । उनको सच्ची सुख-शांति कभी भी प्राप्त न होगी । वे इस जीवनमें भी दुःखी होंगे व आगामी भी दुःखी होंगे ।

लौकिक भोग तृप्तिकारी नहीं ।

को वा तृप्तिं समायातो भोगैर्दुःखितबन्धनैः ।
देवो वा देवराज्यो वा चक्रांको वा नराधिपः ॥२१०॥

अन्वयार्थ—(दुरितबन्धनैः भोगैः) पापको बांधनेवाले भोगोंसे (कः वा तृप्तिं समायातः) कौन ऐसा है जिसको तृप्ति हो सकी

हो (देवः वा देवराजः वा चक्रांकः वा नराधिपः) चाहे वह देव हो या इन्द्र हो या चक्रवर्ति हो या राजा हो ।

भावार्थ—इन्द्रियोंके भोगोंको भोगनेसे किसीको भी तृप्ति नहीं होती । निर्धन हो या धनी हो, भोगरोगसे पीडित सब दुःखी हैं । इन्द्र, चक्रवर्ती, देव व राजा तो पुण्यशाली माने जाते हैं । वे दीर्घकाल तक मनवांछित इन्द्रियोंके भोग करते हैं फिर भी उनका मन कभी तृप्त नहीं होता है । जैसे समुद्र नदीसे व अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती है वैसे यह मन विषयोंके भोगसे तृप्त नहीं होता ।

आत्मा ही सच्चा तीर्थ है ।

आत्माऽसौ सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः ।
यदाऽसौ प्रशमे नास्ति ततस्तीर्थं निरर्थकम् ॥ २११ ॥

अन्वयार्थ—(यदा आत्मा प्रशमे स्थितः असौ सुमहत् तीर्थं) जिससमय आत्मा शांतभावमें स्थिर होजाता है वही महान तीर्थ है (यदा असौ प्रशमे नास्ति) और जब यह आत्मा शांतभावमें नहीं है (ततः तीर्थं निरर्थकम्) तब तीर्थयात्रा निरर्थक है ।

भावार्थ—संसारसे तारे-पार उतारे उसे ही तीर्थ कहते हैं । संसारतारक एक आत्माका अनुभव है, जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकता होरही है । आत्मानुभवके समयमें आत्मा शांत होता है, यही दशा सच्चा मोक्षमार्ग है । इस आत्ममननको जागृत करनेके लिये व शांत भावोंकी प्राप्तिके लिये जो तीर्थयात्रा श्री सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थ-

स्थानोंकी करता है वह यात्रा सफल है या सार्थक है परन्तु जिसको आत्मभावनाकी तरफ लक्ष्य नहीं है, केवल लौकिक समझकर तीर्थ-स्थानोंमें जायगा, उसको मोक्षमार्गका लाभ न होगा इसलिये उसकी यात्रा निरर्थक है। केवल कुछ पुण्य बांध लेगा—मोक्षकी सिद्धि वह कदापि नहीं कर सकेगा।

जलस्नानसे आत्मशुद्धि नहीं।

शीलव्रतजले स्नातुं शुद्धिरस्य शरीरिणः।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु सर्वेष्वपि महीतले ॥२१२॥

अन्वयार्थ—(शीलव्रतजले स्नातुं अस्य शरीरिणः शुद्धिः) शील-व्रतरूपी जलके भीतर स्नान करनेसे इस प्राणीकी शुद्धि होसक्ती है (महीतले सर्वेषु तीर्थेषु अपि स्नातस्य न तु) किन्तु इस पृथ्वीमें सर्व ही नदियोंमें स्नान करनेसे भी कदापि शुद्धि नहीं होसक्ती है।

भावार्थ—आत्माको कर्मोंसे छूटना व रागद्वेष भावोंसे छूटना यही प्रयोजन है। उसकी सिद्धि नदियोंके स्नानसे कदापि नहीं होगी—(नदी स्नान तो हिंसाका कारण है) किंतु शीलव्रत पालनेसे होगी। अन्तरंग शीलव्रत कषायोंको मंद करके शांतभाव व ब्रह्मरूपी आत्मामें रमण है, बाहरी ब्रह्मचर्यमें उनका त्याग है। जिनका आत्मा शांतरसमें नित्य गोते खाता है वह नित्य आत्मगंगामें स्नान कर रहा है। यही सच्चा स्नान है जो कर्ममल धोता है। अनेक नदियोंमें स्नान करनेसे आत्माकी शुद्धि कर्मोंसे कदापि नहीं होसक्ती है। उनसे तो हिंसाके कारण पापका ही बंध होगा। इसलिये बुद्धिमान मानवको उचित है कि वह आत्मगंगामें नित्य स्नान करके पवित्र हो।

तत्वज्ञानका स्नान सच्चा स्नान है।

रागादिवर्जितं स्नानं ये कुर्वन्ति दयापराः।
तेषां निर्मलता योगे न च स्नातस्य वारिणा ॥२१३॥

अन्वयार्थ–(ये दयापराः) जो दयावान् पुरुष (रागादिवर्जितं स्नानं) राग द्वेषादिसे रहित आत्माके स्वरूपमें रमण करते हुए उसीमें डूबकी लगाते हैं (तेषां निर्मलता योगे) उनकी शुद्धि योगाभ्यासमें होजाती है (न च स्नातस्य वारिणा) किंतु जलमें स्नान करनेवालेकी शुद्धि जलसे नहीं होसक्ती है।

भावार्थ–आत्माको कर्मोंसे छुड़ानेका उपाय या रागादि मलसे छुड़ानेका उपाय वीतराग विज्ञानमय आत्माके भीतर स्नान करना है। जलका स्नान आत्माके भावोंको शुद्ध नहीं कर सक्ता है। जल-स्नानसे हिंसा होती है इससे पापका बन्ध होता है। दयावान् महात्मागण जलस्नानसे शुद्धि न मानकर आत्माके अनुभवसे शुद्धि होती है ऐसा निश्चय करके आत्मारूपी गंगामें स्नान करते हैं, यही सच्चा स्नान है।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थ–(आत्मानं नित्यं चारुणा ज्ञाननीरेण स्नापयेत्) आत्माको सदा पवित्र ज्ञानरूपी जलसे न्हलाना चाहिये (येन जीवः जन्मान्तरेषु अपि निर्मलतां याति) जिससे यह जीव भव भवमें भी कर्मरूपी मैलसे छूटकर निर्मल होजाता है।

भावार्थ—तत्वज्ञानमें रमण करना ऐसा पवित्र स्नान है जिससे केवल इसी जन्ममें ही शुद्धि नहीं होती है, किंतु भवभवमें आत्मशुद्धिदाता है। उनका आत्मा शुद्ध होजाता है, वह पवित्र संस्कार परलोकमें भी बना रहता है।

शरीर शुचि नहीं होसक्ता।

सर्वाशुचिमये काये शुक्रशोणितसंभवे।
शुचित्वे येऽभिवांच्छंति नष्टास्ते जडचेतसः ॥२१९॥

अन्वयार्थ—(ये शुक्रशोणितसंभवे सर्वाशुचिमये काये) जो कोई वीर्य और रुधिरसे उत्पन्न पूर्णपने अपवित्र शरीरमें (शुचित्वं अभिवांच्छंति) पवित्रताकी वांछा करते हैं (ते जडचेतसः नष्टाः) वे जडबुद्धि अपना नाश करते हैं।

भावार्थ—यह मानवदेह माताका रुधिर व पिताका वीर्य इन दोनोंके संयोगसे पैदा हुआ है तथा हर जगह मलमूत्र, रुधिर, कफ, हाडचामसे भरा है। इसके नव बडे द्वारोंसे व रोमछिद्रोंसे सदा मल ही बहता है। इसको कोई लाखों दफे गंगाजलमें स्नान करावे तो भी यह पवित्र नहीं होसक्ता। जैसे मदिराका घडा पानीमें डुबानेसे शुद्ध नहीं होसक्ता। जो जलादिसे इस शरीरका पवित्र होना मानते हैं वे मूर्ख हैं। उनको तत्वज्ञानका होना कठिन है।

औदारिकशरीरेऽस्मिन् सप्तधातुमयेऽशुचौ।
शुचित्वं येऽभिमन्यन्ते पशवस्ते न मानवाः ॥२२०॥

अन्वयार्थ—(ये) जो कोई (अस्मिन् सप्तधातुमये अशुचौ

औदारिक शरीरे) इस सात धातुमई अपवित्र औदारिक शरीरमें (शुचित्वं अभिमन्यन्ते) पवित्रपना मानते हैं (ते पशवः न मानवाः) वे पशु हैं मानव नहीं ।

भावार्थ—मानवोंका शरीर औदारिक है जिसमें सात धातु भरी हैं यह महा अपवित्र है । उसको पवित्र मानना बिलकुल मूर्खता है । इसकी भी पवित्रता तत्वज्ञानके रमणसे व ध्यान स्वाध्यायसे होती है । महात्माओंके शरीर पूज्यनीय होजाते हैं । वास्तवमें पूज्यनीय आत्मा होता है उसकी संगतिसे शरीर भी पूज्यनीय होजाता है ।

शुद्धि क्या वस्तु है ?

सत्येन शुद्धयते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्धयति ।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थ—(वाणी सत्येन शुद्धयते) मनकी शुद्धि सत्य बोलनेसे है (मनः ज्ञानेन शुद्धयति) मनकी शुद्धि तत्वज्ञानसे है (कायः गुरुशुश्रूषया) कायकी शुद्धि गुरुकी सेवामें है (एष सनातनः शुद्धिः) यह अनादि कालकी सनातन शुद्धि है ।

भावार्थ—हमारे पास मन वचन काय हैं, उनकी शुद्धिका उपाय यह है कि हम मनमें तत्वज्ञानका विचार करें, मन पवित्र होगा। वचनोंसे सत्य शास्त्रोक्त हितकारी वचन बोलें, इससे वचनकी शुद्धि बनी रहती है। कायकी शुद्धि गुरुकी सेवासे या दुखी थके हुए धर्मात्माओंकी सेवासे होती है । जिनका मन वचन काय इसतरह शुद्ध रहता है वे ही मानव महात्मा हैं व पवित्र हैं ।

मनुष्य-जन्मकी सफलता।

स्वर्गमोक्षोचितं नृत्वं मूढैर्विषयलालसैः।

कृतं स्वल्पसुखस्यार्थं तिर्यङ्नरकभाजनम् ॥ ३१८ ॥

अन्वयार्थ-(विषयलालसैः मूढैः) विषयोंके लम्पटी मूर्ख लोगोंने (स्वर्गमोक्षोचितं नृत्वं) इस मनुष्य जन्मको, जिससे स्वर्ग तथा मोक्षकी सिद्धि की जा सक्ती है (स्वल्पसुखस्यार्थे) अल्प इन्द्रिय सुखके अर्थ खोकर (तिर्यङ् नरकभाजनम् कृतं) अपनेको तिर्यंच गति व नरक गतिमें जानेके योग्य कर लिया।

भावार्थ यह मनुष्य जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। उसको पाकर ऐसा यत्न करना चाहिये जो जन्म मरणसे रहित मोक्षका लाभ होजावे। यदि कदाचित् मोक्ष न प्राप्त हो तो स्वर्ग तो अवश्य प्राप्त होजावे। यह तब ही हो सक्ता है जब जैन धर्मका श्रद्धापूर्वक साधन किया जावे। जो इस बातको भूलकर विषय भोगोंमें फंस जाते हैं वे मरकर दुर्गतिमें चले जाते हैं।

सामग्रीं प्राप्य सम्पूर्णां यो विजेतुं निरुद्यमः

विषयारिमहासैन्यं तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थ-(सम्पूर्णां सामग्रीं प्राप्य) सब अनुकूल सामग्रीको पाकर (यः विषयारिमहासैन्यं विजेतुं निरुद्यमः) जो विषयरूपी शत्रुकी महा सेनाको जीतनेका उद्यम नहीं करता है (तस्य जन्म निरर्थकम्) उसका संसारमें जन्म व्यर्थ है।

भावार्थ-मनुष्य जन्म, इन्द्रियोंकी पूर्णता, दीर्घायु, लोक-

मान्य कुल, उत्तम जिनधर्मकी संगति, निराकुल आजीविका इत्यादि सब अनुकूल साधन पाकर भी जो इन्द्रियोंके विषयोंके मोहमें फंस जावे और इन विषयोंको शत्रु समझकर उनके जीतनेका प्रयत्न करे तो उस मानवका जन्म व्यर्थ ही हुआ। नरदेह पानेका फल यही है जो आत्माके वैरी विषयकषायोंको जीता जावे, जिससे शीघ्र ही संसारका भ्रमण दूर हो।

पापरहित वचन बोलो।

निरवद्यं वदेद्वाक्यं मधुरं हितमर्थवत्।
प्राणिनां चेतसोऽल्हादि मिथ्यावादबहिष्कृतम् ॥३२०॥

अन्वयार्थ-(वाक्यं निरवद्यं, मधुरं, हितं, अर्थवत्, प्राणिनां चेतसः आल्हादि, मिथ्यावादबहिष्कृतम् वदेत्) वचन ऐसा बोलना चाहिये जो पापगर्भित न हो, मीठा हो, हितकारी हो, अर्थ सहित हो, प्राणियोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाला हो तथा मिथ्यावादसे रहित हो।

भावार्थ-वचनोंके कारण जगतसे प्रेम या जगतसे द्वेष हो जाता है। इसलिये द्वेषोत्पादक हिंसाकारी, पीड़ाकारी, कटुक वचन न कहकर ज्ञानीको ऐसे वचन बोलने चाहिये मानों अमृत ही पिला रहे हैं। जो वचन सार्थक हितकारी व मीठा होता है वही वचन बोलना उचित है। झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यंति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं किं वाक्येऽपि दरिद्रता ॥ ३२१ ॥

अन्वयार्थ-(प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे जन्तवः तुष्यन्ति) मिष्ट

वचन बोलनेसे सर्व प्राणी राजी रहते हैं (तस्मात् तत् एव वक्तव्यं) इसलिये ऐसा ही प्रिय वचन बोलना योग्य है (वाक्येऽपि दरिद्रता किं) वचनोंको मधुरतासे कहनेमें क्यों दरिद्रता होनी चाहिये।

भावार्थ-जगतमें शब्दोंकी कमी नहीं है। बुद्धिमान सज्जनको उचित है कि मीठे वचन लोगोंसे बोले। मिष्ट वचन कहना मानो अमृतका पिलाना है। अप्रिय कठोर शब्दोंकी काममें न ले। सर्व शब्द कोमल हितकारी होने चाहिये।

संसार-दुःखके क्षयका उपाय।

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्पूजनम्।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थ-(दुःखविच्छित्तये) संसारके दुःखोंका नाश करनेके लिये (व्रतं शीलतपोदानं संयमः अर्हत्पूजनम् एतत् सर्वं प्रोक्तं न संशयः) मुनिव्रत या श्रावकव्रत, ब्रह्मचर्य, १२ प्रकार तप, चार प्रकार दान, संयम तथा अर्हत्का पूजन ये सब उपाय कहे गए हैं। इसमें संशय न रखना चाहिये।

भावार्थ-जो इस जन्मके व आगामी दुःखोंसे बचना चाहें उनको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसादि पांच व्रतोंको पालना चाहिये। ब्रह्मचर्य पर विशेष लक्ष्य देना चाहिये। बारह प्रकार तप करना चाहिये। आहार औषधि आदि दान करना चाहिये। नियम व प्रतिज्ञा लेनी चाहिये व अर्हत् भगवानकी श्रद्धापूर्वक पूजा करनी चाहिये। उन्हीं उपायोंसे कर्मका नाश होगा।

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत् ।
पररामा समा मातुः पश्यन् याति परं पदम् ॥ २२३॥

अन्वयार्थ–(परद्रव्यं तृणतुल्यं) दूसरेके धनको तृणके समान (परं च स्वशरीरवत्) दूसरेके शरीरको अपने शरीरके समान (परामा मातुः समा) परस्त्रीको माताके समान (पश्यन्) जो देखता है (परं पदं याति) वह परम पद मोक्षको पाता है ।

भावार्थ–हरएक मानवको अहिंसाव्रत भलेप्रकार पालना चाहिये। जिसके पास जो वस्तुएं होती हैं वे उसे प्राणोंसे अधिक प्यारी होती हैं। इसलिये उसकी वस्तुओंको चुराना बड़ा दोष है, बड़ी हिंसा है। अतएव परके धनको तृणके समान देखकर उसकी लालसा न करनी चाहिये । जैसे अपने शरीरको कष्ट पहुंचता है तो वेदना होती है वैसे यदि दूसरेके शरीरमें मैं कष्ट पहुंचाऊंगा तो वेदना होगी ऐसा समझकर किसीको सताना न चाहिये। ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षार्थ परस्त्रीको माताके समान देखना चाहिये । स्वस्त्रीमें गृहस्थको संतोष रखना चाहिये । ये ही बातें मोक्षको पहुंचा देती हैं ।

सम्यक्त्वं समतायोगो नैःसंगं क्षमता तथा।
कषायविषयासंगः कर्मणां निर्जरा परा ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थ–(सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन-तत्वार्थका श्रद्धान (समता) वीतरागता (योगः) ध्यान (नैःसंगं) परिग्रहका त्याग (क्षमता) क्षमा (तथा कषायविषयासंगः) तथा विषय कषायका त्याग (कर्मणां परा निर्जरा) ये सब कर्मोंकी बड़ी निर्जरा करनेवाले हैं ।

भावार्थ–कर्मोंके प्रचुर छूट जानेके लिये सम्यग्दर्शन सहित

वीतरागका, ध्यानका, अपरिग्रहका, क्षमाका, विषय कषायोंके त्यागका अभ्यास मोक्षका साधन है। इनको निरंतर पालना चाहिये।

अयं तु कुलभद्रेण भवविच्छित्तिकारणम् ।
दृब्धो बालस्वभावेन ग्रंथः सारसमुच्चय ॥ ३२५ ॥

अन्वयार्थ-(बालस्वभावेन कुलभद्रेण) अज्ञान स्वभावधारी कुलभद्र आचार्यने (अयं तु सारसमुच्चय ग्रन्थः भवविच्छित्तिकारणं दृब्धो) इस सारसमुच्चय ग्रन्थको संसारकी स्थितिको काटनेके लिये रचा है ।

भावार्थ-श्री कुलभद्राचार्यने केवल आत्मकल्याणके हेतु इस ग्रंथको रचा है, और कोई ख्याति पूजादिकी चाह नहीं है।

ये भक्त्या भावयिष्यंति भवकारणनाशनम् ।
तेऽचिरेणैव कालेन प्राशं प्राप्स्यंति शाश्वतम् ॥३२६॥

अन्वयार्थ-(ये भवकारणनाशनम् भक्त्या भावयिस्यंति) जो कोई संसारके कारण कर्मोंको क्षय करनेके लिये भक्तिपूर्वक इस ग्रंथकी भावना करेंगे (ते अचिरेण एव कालेन शाश्वतम् प्राशं प्राप्स्यंति) वे थोड़े ही कालमें अविनाशी अमृतमई भोजनको खा सकेंगे अर्थात् मोक्षका लाभ करेंगे ।

भावार्थ-इस ग्रन्थमें सुगमतासे मोक्षका उपाय बताया है व आत्मानंद पीनेका मार्ग झलकाया है। जो कोई इसे वांरवार पढ़ेंगे वे सच्च सुखको पाएंगे।

सारसमुच्चयमेतद्ये पठन्ति समाहिताः ।
ते स्वल्पेनैव कालेन पदं यास्यन्त्यनामयं ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थ-(ये समाहिताः एतत् सारसमुच्चयं पठन्ति) जो समाधान चित्त होकर इस सारसमुच्चय ग्रन्थको पढ़ेंगे (ते स्वल्पेन एव कालेन अनामयं पदं यास्यन्ति) वे थोडे ही कालमें सर्व रोग रहित अविनाशी पदको पासकेंगे ।

भावार्थ-इस ग्रन्थका शांतिसे मनन वैराग्यका कारण है । वैराग्यसे ध्यानकी सिद्धि होती है । ध्यानसे मोक्ष प्राप्त होता है ।

नमः परमसद्ध्यानविघ्ननाशनहेतवे ।
महाकल्याणसम्पत्तिकारिणेऽरिष्टनेमये ॥ ३२८ ॥

अन्वयार्थ-(परमसद्ध्यानविघ्ननाशनहेतवे) परम सुन्दर धर्मध्यान व शुक्लध्यानमें विघ्नोंको नाश करनेके कारण व (महाकल्याणसम्पत्तिकारिणे) महाकल्याण रूप शिवसम्पदाके कारण (अरिष्टनेमये) श्री अरिष्टनेमि बाइसवें तीर्थंकरको (नमः) नमस्कार हो ।

भावार्थ-श्री नेमिनाथ भगवानकी भक्ति प्रदर्शित करते हुए कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चय ग्रन्थका निर्माण किया है अतएव अंतमें श्री नेमिनाथजीको ही नमस्कार किया है ।

दोहा-मंगल श्री अरहंत हैं-मंगल सिद्ध महान ।
मंगल सूरि उवझाय हैं-मंगल साधु प्रमान ॥

२१-८-३५] ब्र० सीतलप्रसाद ।

अनुवादककी प्रशस्ति ।

दोहा ।

गुड़गांवा फर्रुखनगर, है विख्यात सुथान ।
अग्रवाल शुभ वंशमें, गोयल गोत्र महान ॥ १ ॥
पृथ्वीराज गृहस्थ हैं, जैन धर्म लवलीन ।
पेड़ा बांटे नगरमें, नाम सभी रखदीन ॥ २ ॥
सुत ज्वालापरसाद हैं, ता सुत इन्दरराज ।
ता सुत हैं रायसिंहजी, चले सुवाणिज काज ॥ ३ ॥
आए लक्ष्मणपुर बसे, हुए धनी व्यापार ।
ता सुत मंगलसैनजी, हैं विद्वान अपार ॥ ४ ॥
ता सुत मक्खनलालजी, तिनके सुत दो आज ।
संतलालजी प्रथम हैं, तृतिय जु सीतल साज ॥ ५ ॥
विद्या पढ़ गार्हस्थमें, बत्तिस वय उलझाय ।
चित उदास श्रावक भये, भ्रमत धर्म लव लाय ॥ ६ ॥
उन्निससौपर बानवे, विक्रम सम्वत आय ।
लक्ष्मणपुर वासा किया, वर्षामें सुखदाय ॥ ७ ॥
जैन दिगम्बर घर यहां, शत संख्या अनुमान ।
साधत धर्म सुप्रेमसे, मानत श्री जिन आन ॥ ८ ॥

चौक गंज अहिया तथा, गंज सआदत जान।
डालिगंज चार्वागमें, मंदिर षष्ठ प्रमान ॥ ९ ॥

गृह चैत्यालय तीन हैं, बालक पाठशाला जान।
औषधिशाला एक है, जैन बाग सुखदान ॥ १० ॥

साधुजनके संगमें, रहा धर्म रस चाख।
ग्रंथ लिखनमें कालको, सफल किया हित राख ॥११॥

श्री कुलभद्र महान हैं, ज्ञाता श्रुत आधीश।
सार समुच्चय ग्रंथको, लिखा परमगुण ईश ॥ १२ ॥

तिसकी भाषा वचनका, हुई गुरू परसाद।
पढ़ो पढ़ावो भव्य जन, पावो आत्म प्रसाद ॥ १४ ॥

सफल करो नर जन्मको, जैनधर्म रस लेय।
हो पवित्र यह आत्मा, कर्म संग तज देय ॥ १५ ॥

भादों सुदी दोयज दिना, शनीवार दुखहार।
संवत उन्निसबानवे, टीका लिखी उदार ॥ १६ ॥

भूल चूक कुछ होय तो, विद्वज्जन अरदास।
क्षमा करो शोधो सही, कहे सुखोदधि दास ॥ १७ ॥

सत्तावन वय धारता, सीतल जिनका दास।
पूर्ण आयु तक धर्म जिन, करूँ हृदय पुटवास ॥१८॥